काव्य सम्प्रदाय और वाद

लेखक
श्री अशोककुमारसिंह
वेदालंकार, प्रभाकर, एम० ए०, एल० टी०

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क, दिल्ली
ब्रान्च:—प्रताप रोड, जालन्धर

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।। मम्मटाचार्य ।।

"यदि मुझे निखिल विश्व में से एक ऐसा देश, जिसे प्रकृतिदेवी ने अपने अमित वैभव, शक्ति और सौन्दर्य से विभूषित किया है, भू पर स्वर्गोपम रचा है, ढूँढना पड़े तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा। यदि मुझसे पूछा जाय कि वह कौनसा आकाश-खण्ड है जिसके नीचे मानवीय प्रतिभा ने अपने सर्वोत्तम वरदानों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया है, जीवन के शाश्वत एवं गूढ़तम प्रश्नों की तह में पहुँचने का सफल प्रयास किया है और उनमें से कइयों का प्रामाणिक समाधान, जो कि प्लेटो और काण्ट के अध्येताओं तक का ध्यान आकृष्ट कर सके, प्रस्तुत किया है—तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा। और यदि मैं स्वयं ही अपने से प्रश्न करूँ कि हम योरुपवासी, जो कि लगभग समग्रत: ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक यहूदी जाति की विचार-धाराओं पर पालित-पोषित हुए हैं; कौन से 'साहित्य' से उस अनिवार्यरूपेण वाञ्छित स्फूर्ति को प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, व्यापक, विश्वजनीन और वस्तुतः—न केवल इस जीवन को अपितु परवर्ती शाश्वत जीवन को भी—अधिक मानवीय बना दे—तो मैं पुनरपि भारत का ही निर्देश करूँगा।"—मैक्समूलर।

ये उद्गार पौरस्त्य विद्याओं एवं साहित्य के विख्यात मर्मज्ञ, पाश्चात्य विद्वान् श्री मैक्समूलर के है। किसी भी देश और उसके दार्शनिक मीमांसा-शास्त्र और साहित्य के विषय में इससे अधिक

गौरवपूर्ण शब्दावली का प्रयोग सम्भवतः आज तक किसी प्रामाणिक आलोचक द्वारा नहीं किया गया। उक्त संक्षिप्त सम्मति का महत्त्व इस कारण कहीं बढ़ गया है कि यह एक ऐसे विदेशी विद्वान् के दीर्घकालीन अध्ययन का निष्कर्ष है, जिसने अपने जीवन का अधिकांश समय संसार के साहित्यमहोदधि का तुलनात्मक अवगाहन करने में व्यतीत किया है। आज का स्वतन्त्र भारत इसी साहित्य का एकमात्र उत्तराधिकारी है।

संस्कृत-साहित्य संसार के प्राचीनतम साहित्य-संग्रहों में से अन्यतम है। इसके विषय में अब तक, निश्चित रूप से, यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितनी सहस्राब्दियों के मनीषियों की चिन्तन-साधना का 'सत्' सञ्चित है। इस अक्षय ज्ञाननिधि की, जैसा कि मैक्समूलर के उद्गारों से स्पष्ट है, आवश्यकता केवल भारत-सन्तान के लिए ही नहीं, अपितु विश्व के 'मानव' को 'मानवीय' बनाने के लिए भी है। तो एक राष्ट्रीय प्रश्न हमारे सामने आता है—क्या स्वतन्त्र भारत इस दुष्प्राप्य महानिधि को सुरक्षित रख सकेगा ?

आज के मानव का अग्रणी, वह मानव ! और उसकी नवेली सहचरी पाश्चात्य सभ्यता !! कौन नहीं जानता कि पाश्चात्य सभ्यता का लाड़ला यह मानव आज अपने वैभव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है ? महायन्त्र-प्रवर्तन की अपार क्षमता और आणविक शस्त्रास्त्रों की कल्पनातीत शक्तिमत्ता के अनुपम वरदानों ने उसके मन में 'प्रकृति-प्रिया' के हठात् वरण की अदम्य आकांक्षा उद्दीप्त कर दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वृद्ध विश्व की चिर अभिलाषा की तृप्ति का वह स्वयंवर-समारोह, जिसमें हठीली प्रकृति को 'मानव' के गले में विजयमाला डालनी पड़ेगी, सर्वथा निकट आ गया है। ऐश्वर्यों का स्वामी 'मानव' राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न कर 'शतक्रतु' की पदवी पाने को है; और यह विजय-वैजयन्ती पुष्प-पंखुड़ियों को नभ से बिखेरती हुई फहराना

ही चाहती है।······परन्तु अरे ! इस शुभ घड़ी में यह शंका कैसी ? क्या कहा—'अधूरा मानव !' हाँ; ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक जाति यहूदी के सम्पूर्ण साहित्य की 'मिश्रित खुराक' पर पोषित होकर भी यह मानव अधूरा ही है। सम्भव है, लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मानवता का ही संहार कर बैठे। तब यह स्वयंवर-समारोह विश्व-श्मशान के रूप में परिणत हो जायेगा।

तब मानवता की रक्षार्थ भावनाओं के परिष्कार का आयोजन आवश्यक है। विश्व-शान्ति का आधार पारस्परिक सद्भावनाएँ ही हो सकती हैं। कलात्मक साहित्य, समन्वय-प्रधान दर्शन और 'सर्वभूतहितेरतः' वाली आध्यात्मिक विचारधारा भावनाओं को उदात्त बनाने में अमोघ मानी जा सकती है। यदि शुष्क एवं बुद्धिमूलक विज्ञान के अध्ययन ने आज के मानव को हृदयहीन बना दिया है तो कलात्मक साहित्य अपनी मोहक माधुरी से उसमें सच्ची सहृदयता की चेतना फूंक सकता है। यह कहना अतिचार न होगा कि संस्कृत-साहित्य में मानवीय भावनाओं के परिष्करण की अनुपम क्षमता है। विश्व के दूसरे महान् सत्साहित्यों के समानान्तर संस्कृत-साहित्य मानवीयता के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है; इसमें सन्देह नहीं।

विश्व और मानवता के लिए संस्कृत का पुरातन साहित्य बड़ा उपयोगी है; यह माना जा सकता है। परन्तु नवोदित भारतीय राष्ट्र के लिए इसकी क्या महत्ता है ? यह प्रश्न भी गम्भीरता से विचारणीय है।

संस्कृति भूतकाल की प्रगति का जातीय प्रवाह है, जिसका 'प्रवेग' जाति को भविष्य के पथ पर अग्रसर करता है। इस प्रवाह में वह सभी कुछ शामिल रहता है, जो भूत में जाति के मार्ग में आ उपस्थित होता आया है। और उस 'समग्र' का प्रत्येक अंश प्रवाह के 'प्रवेग' से शक्ति

प्राप्त कर उसी प्रवाह को इस प्रकार से 'प्रवेग' प्रदान करता है, जिससे जातीय आचार-विचार की धारा एक सुनिश्चित दिशा में प्रगतिशील हो उठती है। इस प्रकार संस्कृति का मूल तत्त्व प्रवेग या "प्रगति के लिए सुनिश्चित आतुरता" है। यह आतुरता 'प्रवाह' की संसक्ति अथवा एकता पर निर्भर है। यदि जातीय प्रवाह में संसक्ति (एकनिष्ठता) न रहे तो जाति छिन्न-भिन्न हो बिखर जाती है। फलतः सामूहिक जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए जातीय उत्थान और प्रगति के लिए संस्कृति की आवश्यकता होती है।

भारतीय राष्ट्र लगभग एक सहस्राब्दिपर्यन्त राजनैतिक अधःपतन के महागर्त में निमग्न रहा। इस महागर्त से हमारे राष्ट्र का उद्धार कैसे हुआ ? यह एक सांस्कृतिक एकता की सूक्ष्म शक्ति की विजय की रहस्यमयी कहानी है। भारतीय संस्कृति के प्रवेग में से तिलक, ऋषि दयानन्द, मालवीय, रवीन्द्र और गाँधी जैसे महापुरुष सामने आये; जिन्होंने राष्ट्र के जातीय प्रवाह की अतुलित शक्ति को पहिचान लिया और उसे काम में लाये; जिसका फल यह हुआ कि आज भारतीय राष्ट्र उत्तप्त भट्टी में से तपकर निष्पन्न कञ्चन की तरह अवदात होकर, नव अरुणोदय के रूप में जगती के रङ्गमञ्च पर सहसा आ खड़ा हुआ है। अब उसे मानवीय संस्कृति के विकास तथा आत्म-अभ्युदय के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है।

राष्ट्रनायक जवाहरलाल के शब्दों में यदि कहा जाय तो आज दिन भारतीय राष्ट्र को सर्वोपरि जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है—'राष्ट्रीय एकता'। परन्तु यह बात सर्वथा सुविदित है कि राष्ट्रीय एकता का आधार होता है 'सांस्कृतिक एकता'। यही वह वस्तु है, जिसने असमय में भारतीय राष्ट्र की रक्षा की, जो भारतीय राष्ट्र को राष्ट्र बनाती है, और जो भारतीय राष्ट्र को विश्व-सेवाओं में गौरव प्रदान करवा सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से हमारी 'सांस्कृतिक एकता' प्रान्तीयता,

पद-लोलुपता, कुनवा-परस्ती और भाषा-विप्लव जैसी महामारियों से आक्रान्त-सी दीख रही है। भौतिक सुखोपभोग और महत्त्वाकांक्षाओं की लिप्सा के कारण भारतवासियों के 'समान-जीवन-दर्शन' के तिरोहित होने का भय उपस्थित हो गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत 'वर्णाश्रम-मर्यादा', जिसने सहस्रों वर्षों तक इस विशाल-मानव-समूह की नींव में रहकर काम किया है, आधुनिक प्रजातन्त्र में पोषण के अभाव में सूखने लगी है। वर्णाश्रम-मर्यादा समाज और व्यक्ति के जीवनों को उचित रूप में मर्यादित कर एक-दूसरे के प्रति समन्वित करती थी। उसका यह कार्य तो समाप्त हो गया; सिर्फ उसके ध्वंसावशेष के रूप में बचे जाति-पाँति के बन्धनों के जाल ने समाज को कसकर जकड़ दिया है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक चेतना और मातृभूमि की उपासना के केन्द्रीभूत 'तीर्थस्थान' भी 'सिटी' रूप में परिणत होते जा रहे हैं। भौतिक मिथ्याचार ने श्रद्धातत्त्व की सजीवता पर पाबन्दी लगा दी है। भाषा-विप्लव ने तो सांस्कृतिक क्षेत्र में कानन-कानून को चरितार्थ कर रखा है। भारतीय इतिहास में वह दिन दुर्भाग्य का ही कहा जा सकता है, जिस दिन संस्कृत-भाषा का राष्ट्रीय गौरव समाप्त किया गया। सांस्कृतिक एकता की जड़ में यह प्रबलतम कुठाराघात था। जब भगवान् बुद्ध ने लोक-बोलियों को मान्यता देकर 'विकार' और 'प्रमाद' के लिए रास्ता साफ कर दिया तो भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुसार नित्य-नूतन प्रादुर्भूत होनेवाली बोलियों के दुर्दमनीय प्रवाह ने भारत-भू को एकदम निमज्जित कर दिया। इस विकट परिस्थिति को तीन महापुरुषों ने खूब समझा। इनमें दो सज्जन गुजराती और एक अँग्रेज थे। गुजराती महानुभाव स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी ने सुधार के उपाय के रूप में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को असन्दिग्ध रूप में राष्ट्रभाषा स्वीकार कर भाषा-विप्लव की समाप्ति की उद्घोषणा की। अँग्रेज महानुभाव थे— मैकाले साहब। इन्होंने भारत में अँग्रेजी भाषा को नई

बला के रूप में सत्तारूढ़ कर भाषा की समस्या हल करनी चाही । पर उन्हें सफलता न मिली । कारण स्पष्ट है; मैकाले साहब की धारणा थी—"भारत और अरेबिया का सम्पूर्ण साहित्य योरुप के किसी पुस्तकालय की अल्मारी के एक खाने की तुलना मुश्किल से कर पायेगा।" मैकाले साहब की ग़लत धारणा के कारण ही संसार की सर्वाधिक विकसित भाषा अँग्रेज़ी, संसार के सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य की शक्ति को पीठ पर पाकर भी, भारत में स्थायित्व न पा सकी । अस्तु । इधर ऋषि दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रयत्न के बावजूद भी भाषा-विप्लव की विकराल आँधी पूरी तरह शान्त नहीं हो पाई है, और आज भी साँस्कृतिक एकता के लिए वह सर्वाधिक भय का कारण है।

हमारा युक्ति-क्रम यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता अनिवार्य है। इसमें अन्य साधारण बाधाओं के अतिरिक्त भाषा-विप्लव की बाधा सबसे उग्र है। यह वह बिन्दु है, जहाँ पर चोट करने से सांस्कृतिक एकता का सिंहासन उलट जाता है। भारतीय भाषा-विप्लव के प्रसंग में उर्दू का उत्पात और अँग्रेज़ी का अहंकार चिर-स्मरणीय रहेंगे। वस्तुतस्तु उर्दू कोई अलग भाषा नहीं है। उसके वाक्यों का विन्यास और ढाँचा तथा क्रिया-पद सभी हिन्दी-व्याकरण-सम्मत हैं। उसमें यदि कोई नवीनता है तो केवल अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों की। इसका भी कारण है। उक्त देशों से आनेवाले मुस्लिम शासकों ने अपने अरबी-फ़ारसी प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हिन्दी में उन भाषाओं के शब्दों की खुली भर्ती का ऐलान कर दिया जिससे हिन्दी बेचारी का हुलिया ही तब्दील हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अरबी-फ़ारसी की भरमारवाली जो भाषा उर्दू-रूप में हमारे सामने आती है, उसमें उन शब्दों की भर्ती का आग्रह उन शासकों की विशिष्ट मनोवृत्ति का परिचायक है। स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के समुन्नत

समय में शासकों की तथाकथित विशिष्ट मनोवृत्ति की समाप्ति हो जाती है और उसके साथ उस मनोवृत्ति के अलङ्करण भी निस्तेज व निर्वीर्य होकर स्वतः मूर्छित हो जाते हैं। अतः अब उर्दू भाषा में विदेशी शब्दों की वैसी भरमार को सम्भवतः प्रोत्साहन न मिल सकेगा। तब उर्दू और हिन्दी एक ही रह जाती हैं।

अब ज़रा अँग्रेज़ी भाषा के 'अहंकार' पर भी विचार कर लेना चाहिये। उर्दू के उत्पात के पीछे कोई ठोस वैज्ञानिक आधार कभी नहीं रहा। वह केवल कतिपय विदेशी शासकों की कमज़ोरीमात्र थी, जिसे बाद में कुछ साम्प्रदायिक रंग देकर अखाड़े में उतारा गया। वास्तविक रूप से मुस्लिम जनता का, जो हिन्दुओं में से निकलकर इस्लाम धर्म में दीक्षित हुई थी, अरबी-फ़ारसी शब्दावली से वैसा कोई लगाव कभी न था। मुस्लिम जनता की यदि कोई स्वाभाविक साहित्यिक परम्परा हो सकती थी तो वह रसखान और जायसीवाली ही थी। इसके विपरीत अँग्रेज़ी भाषा के पीछे एक गौरवपूर्ण तत्त्व है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि अँग्रेज़ी भाषा संसार की समृद्धतम भाषाओं में से एक है। अँग्रेज़ी शासनकाल में संस्कृत-भाषा का विकास सर्वथा निरुद्ध और भारतीय लोक-भाषाओं का सीमित किया जा चुका था। ऐसी अवस्था में अँग्रेज़ी अपने साहित्यिक विकास के पूर्ण यौवन में भर शासनसत्ता की मदिरा से उन्मत्त हो मोहक लास्य नृत्य कर उठी, जिसने भारतीय विद्वज्जनों के मन को भी मोहित कर लिया। राज्यभाषा होने के कारण इसके उपासकों को 'पद' और 'अर्थ' दोनों का लाभ होता ही था। इस सबके कारण भारतीय प्रतिभाओं को निखिल भारतीय रूप में आकर चमकने का अवसर न मिला। महाकवि रवीन्द्र बंगाल के और श्री प्रेमचन्द्र इधर के होकर रह गये। इन प्रतिभाओं का अँग्रेज़ी रूपान्तर भारतीय जन-मानस से बहुत दूर की चीज़ हो जाता था। उसमें शासकीय रौब एवं दुरूहता की गन्ध आने लगती थी। जब भारत में

विचारों के माध्यम के रूप में—अखिलदेशीय रूप से—कोई भाषा न रही तो यहाँ विचार-दारिद्र्य और मौलिकता का महा अकाल पड़ गया। इसे देख लोगों की यही धारणा रह गई कि 'हिन्दुस्तानी अच्छा गुलाम होता है।' इस बढ़ते हुए मर्ज़ की रोकथाम के लिए महात्मा गाँधी ने ले-देकर उन विषम परिस्थितियों में 'हिन्दुस्तानी' का आविष्कार किया। परन्तु समय ने सिद्ध कर दिया कि रोगी की प्रकृति के प्रतिकूल दी गई औषध फलवती सिद्ध नहीं होती। भाषा-विप्लव-काण्ड में 'हिन्दुस्तानी' का हुड़दंग एक धमाका बनकर रह गया।

यदि संक्षिप्तरूपेण भारतीय भाषा-विप्लव की अराजकता पर दृष्टि-पात करें तो हमें निम्न विनाशक परिणाम स्पष्टतया लक्षित होंगे—

(क) भारतीय सांस्कृतिक भाषा संस्कृत अपने चिर-अधिष्ठित सिंहासन से पदच्युत कर दी गई। उसका स्थान लेने के लिए शासकीय शक्ति का सहारा लेकर क्रमशः फ़ारसी और अँग्रेज़ी व हिन्दुस्तानी भाषाएँ आईं। पर वे सफल न हो सकीं, क्योंकि उनके पीछे भाषा-वैज्ञानिक नियमों का बल न था।

(ख) सांस्कृतिक भाषा के अभाव में सांस्कृतिक चेतना और प्रतिभा की मौलिकता को फलने-फूलने का माध्यम अनुपलब्ध हो गया। फलतः सांस्कृतिक दैन्य के लक्षण प्रकट होने लगे और भारत में मानसिक दासता का जन्म हुआ।

(ग) इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्वरूप में विकार आने लगा।

(घ) व्यावहारिक भाषा का स्थान अँग्रेज़ी को मिल गया। राष्ट्रीय चेतना प्रान्तीय देशिकता का रूप धारण कर खण्डित होती गई।

(च) भारतीय समाज कुछ ऐसे समुदायों में विभक्त हो गया जिनके

मध्य बड़ी अस्वाभाविक दीवार खड़ी हो गयी। अँग्रेज़ी जानने-वालों तथा अँग्रेज़ी से अनभिज्ञ लोगों के मध्य मिथ्या आडम्बर स्थान पा गया।

(छ) ग्रामीण समाज को मानसिक और सांस्कृतिक चेतना की धारा से वञ्चित हो जाना पड़ा।

आखिर वह दिन भी आया, जबकि भारतीय संविधान में संस्कृत-निष्ठ हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकृत किया गया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी की संस्कृतनिष्ठता बड़े महत्त्व की है। यदि हिन्दी को संस्कृत के आधार पर विकसित न किया गया तो यह भी पूर्ववर्ती प्रयोगों की तरह व्यर्थ होगा। संस्कृत-साहित्य अपनी विविध और समुन्नत परम्पराओं को प्रदान कर हिन्दी को गौरवान्वित कर सकता है। हमारे प्राचीन साहित्य की सर्वोत्कृष्ट देन—भारतीय नव-राष्ट्र के लिए—यही हो सकती है। संस्कृत में ही वह शक्ति निहित है जो एक सहस्र वर्षों से पथ-भ्रष्ट राष्ट्र को संस्कृति के उस पथ पर डाल सकती है जो राष्ट्रीय गौरव के उपयुक्त है।

इस परिस्थिति में राष्ट्रभाषा-सेवकों पर जो महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसके प्रति सजग रहने से ही सफलता सम्भव है। यह नितान्त आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा के अध्ययन-क्रम के पीछे जो दृष्टि है उसमें मौलिकता एवं गाम्भीर्य दोनों आ जायें। संस्कृत माता की सुखद गोद में बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती आदि बहिनें इस प्रेम से मिल जायें कि मानों पितृगृह में आकर सगी बहनें परस्पर गले मिल गई हों। भारतीय गणतन्त्र की छत्रछाया में यह स्नेह-सम्मेलन चिरकाल तक सुधारस-धार प्रवाहित कर जन-मन को तृप्त करता रहे।

अँग्रेज़ी शिक्षा-विशारदों के निर्देश से आधुनिक भारतीय भाषाओं की उच्च कक्षाओं एवं संस्कृत भाषा का जो पाठ्य-क्रम निर्धारित था

वह पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही जन्म दे सकता था। अब उस अध्ययन में ठोस गाम्भीर्य आने की आवश्यकता है। इस सबके अतिरिक्त अँग्रेजी भाषा को यहाँ से सादर विदा करने से पूर्व उसके अन्दर विद्यमान वैज्ञानिक साहित्य की अपूर्व विभूति को आत्मसात् करने का उपक्रम भी वाञ्छनीय है। आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य के बिना संस्कृत, हिन्दी और अन्य सभी देशीय भाषाएँ युग-दृष्टि से अकिञ्चन ही हैं।

इतनी पृष्ठभूमि के पश्चात् अपनी बात भी कहनी आवश्यक है। भारतीय साहित्यिक परम्परा के सम्यगवबोध के बिना किसी भी भारतीय भाषा का अध्ययन अपूर्ण है। अतः इस तुच्छ प्रयास में आधुनिक हिन्दी काव्य-धाराओं को प्राचीन भारतीय काव्य-मतों की शृङ्खला में रखकर हिन्दी-काव्य की प्रगति को परखने की चेष्टा की गई है। आशा है कि हिन्दी और संस्कृत-साहित्य की उच्च कक्षाओं के अध्येता छात्रों को एक शृङ्खला में आबद्ध भारतीय काव्य-परम्पराओं को देखने का अवसर मिलेगा। आरम्भ में 'अलङ्कार-शास्त्र' के संक्षिप्त इतिहास को रख दिया है, ताकि विषय की रूपरेखा पहिले ही ज्ञात हो सके।

काव्यमतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणरूपेण निम्न तथ्य ध्यान रखने उचित हैं, ताकि शुद्ध साहित्यिक विवेक का अनुसरण सम्भव हो सके—

(१) प्राचीन भारतीय काव्यमत काव्य के स्वरूप की खोज में निकले हुए काव्यालोचकों द्वारा स्थापित हुए थे।

(२) जबकि आधुनिक हिन्दी के 'वाद' कवियों की रचनाओं को 'श्रेणी-बद्ध' करने से दीखने लगे हैं।

(३) कुछ 'वाद', जैसे 'प्रगतिवाद', रोटी के राग के रूप में साहित्यक्षेत्र में लाये गये हैं। इनका प्रादुर्भाव न कविकृत है और न आलोचकान्वेषित।

(४) अनेक वाद ऐसे भी हैं जो विदेशी 'आलोचना-क्षेत्र' से यहाँ आकर अभ्यागत रूप में उपस्थित हैं। उनकी उपस्थिति से हमारे आलोचना-साहित्य की शोभा बढ़ी है।

अलङ्कार-शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व क्या है और उसके द्वारा किस लक्ष्य की पूर्ति होती है, यह भी विचारणीय है। 'हमारे यहाँ सभी कुछ है' की प्रवृत्ति जिस तरह कूपमण्डूकता की जन्मदात्री है, उसी तरह विलायत के नित्य-नवीन जन्म लेने वाले फैशनात्मक सिद्धान्ताभास भी जिज्ञासु को 'आकाश-बेल' बनाने के लिए काफ़ी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि तर्क-संगत विवेचन के सहारे विचारों की पारस्परिक तुलना, उनका साम्य वैषम्य के आधार पर वर्गीकरण और तदनन्तर शासक नियमों का उद्‌घाटन कर सकने की विश्लेषणात्मक क्षमता का उदय हो, ताकि सिद्धान्तों के वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। यह सब, उथले और प्रमाण-पत्र-प्रदायक परीक्षा-पास-मात्रात्मक अध्ययन से न हो सकेगा। डा० देवराज के अधोलिखित अभिमत से सहमत होते हुए हमारी कामना है कि यह तुच्छ प्रयास साहित्य के संतुलित अध्ययन में संस्कृत-हिन्दी के छात्रों व जिज्ञासुओं को सहायक हो। इसी में हमारे श्रम की सफलता है—

"जो व्यक्ति काव्य-साहित्य का रस ग्रहण कर सकता है, उसे हम भावुक या सहृदय कहते हैं।......यदि पाठकों और भावी आलोचकों की रस-ग्राहणी शक्ति का स्वाभाविक रूप से विकास हो, तो सम्भवतः उसकी इतनी कमी, उसमें इतना विकार, न हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी काव्याभिरुचि का विकास काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी मतमतान्तरों के बीच होता है। हमारे शिक्षकों का उद्देश्य हमारी काव्यशास्त्र की रस ग्रहण करने की शक्ति को प्रबुद्ध और पुष्ट करना नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट आलोचना-प्रकारों से परिचित कराकर परीक्षा में

'पास' करना भर रहता है, जिसके फलस्वरूप हमारी वह शक्ति नितान्त विकृत या कलुषित हो जाती है।......इस विकृति का प्रभाव पाठकों, आलोचकों तथा साहित्यकारों—तीनों पर देखा जा सकता है, और उसका कुफल साहित्यकारों तथा सम्पूर्ण जातीय साहित्य को भोगना पड़ता है।"—(साहित्य-चिन्ता, पृष्ठ-संख्या ८)।

काव्य-सम्प्रदाय

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास

"भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलङ्कार-ग्रन्थों में साहित्यविषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा में आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं।" डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

भारतीय विद्वानों का काव्यशास्त्र का अनुशीलन समृद्ध, प्रौढ़, सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। इसके पीछे सहस्रों वर्षों का इतिहास और न जाने कितने मनीषियों की साधना छिपी हुई है। विश्व के पुस्तकालय के प्राचीनतम ग्रन्थों—वेदों में, स्वयं वेद को काव्य कहा गया है। निःसन्देह वहाँ यह 'काव्य' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" अर्थात् ए मनुष्य! तू परमात्मदेव के उस काव्य को देख जो न कभी मरा है और न जीर्ण होता है। काव्य की इससे अधिक मौलिक एवं स्पष्ट व्याख्या क्या हो सकती है! काव्य को अजर-अमर कहकर कला के तत्त्वों को एक स्थान में समाहृत कर दिया है। इतनी पुष्ट व्याख्या के साथ-साथ काव्य शब्द का प्रयोग असन्दिग्धरूपेण इस बात का ज्ञापक है कि वैदिक ऋषि काव्य के स्वरूप व महत्ता से सम्यक्तया परिचित थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओं में भी उत्कृष्ट कोटि का काव्यत्व प्राप्त होता है, यह सब हम यथास्थान देखेंगे।

यद्यपि भारतीयों ने सहस्रों वर्षों की विशाल ग्रन्थ-रत्न-राशि और उसकी अमूल्य ज्ञान-निधियों को अद्भुतरीत्या सुरक्षित रखने की जो तत्परता दिखाई है वह न केवल प्रशंसनीय ही है, अपितु आश्चर्यजनक

भी हैं; तो भी आत्मविज्ञान की अत्यन्त अरुचि के कारण इतिहास के प्रति उनकी उदासीनता साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को समझने में भारी कठिनाई उपस्थित करती है। प्रचुर एवं पर्याप्त इतिहास-सामग्री के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ तक पैदा हो जाती हैं। विकास-क्रम के उत्साही छात्र की इस असहायावस्था में एकमात्र मार्ग यहीं है कि वह अपनें काव्यशास्त्र :के इतिहास का अध्ययन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ करे।

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और विवेचनों के सम्यक् बोध के लिए उसकी ऐतिहासिक क्रम-बद्धता भी आवश्यक है। परन्तु उसे प्राप्त करना अति कठिन है। उसके लिए एतद्विषयक भारी अनुसन्धान-सामग्री और श्रम की अपेक्षा है। जिन कारणों से काव्यशास्त्र का इतिहास दुर्लभ बना हुआ है उनका यहाँ निर्देश कर देना आवश्यक है :—

१. विद्वानों के उपलब्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। प्रक्षिप्त अंश काफी रहता है। फिर मूल और प्रक्षिप्तांश का विवेक करना और भी दुःसाध्य है। अतः इस प्रकार के मिश्रित ग्रन्थों के काल-निर्णय में त्रुटि रह जाती है। अथच मानवजाति के दुर्भाग्य से पता नहीं कितने ग्रन्थ अप्राप्त हैं, और कितने ही विनष्ट होकर सदा के लिए अस्तित्वहीन हो काल के गाल में समा गये। उदाहरणार्थ नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तन्त्रसम्बन्धी पुस्तकों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु अद्यावधि उनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

२. भारतीय विद्वानों ने अपने विषय में प्रायः कुछ भी परिचय नहीं दिया है। अतः उनके जीवन, काल, रचित ग्रन्थों और प्रतिपादित सिद्धान्तों का पता पाना कठिन है।

३. अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका क्रमशः विकास होता रहा है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसे देखकर यह प्रतीत होता

है कि यह अनेक समयों में अनेक व्यक्तियों द्वारा सम्पादित होता रहा है।

अस्तु ! जब तक काव्यशास्त्र के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता तब तक काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उठनेवाले साहित्यिक मतों और वादों का समझना व उनका महत्त्व अङ्कित करना नितान्त क्लिष्ट है। फिर भी श्रमशील विद्वज्जनों की कृपा से हमें काव्यशास्त्र के इतिहास का एक मोटा-सा ढाँचा प्राप्त है। इसलिए उस ढाँचे की रूप-रेखा से अवगत होकर हमें अपना काम चलाना पड़ेगा।

× × ×

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ नाट्यशास्त्र ॥

जब किसी सुनसान बीहड़ वन के खण्डहर में किसी भगोड़े सम्राट् की रानी के गर्भ से युवराजपदभाक् कुमार का जन्म हुआ होगा तो राज-दम्पती की तात्कालिक मानसिक वेदना, विक्षोभ और निरीहता का अनुमान आज वीणापाणि भगवती देवी को अवश्य ही हो रहा होगा। आधुनिक बुद्धिवादी रिसर्च-स्कॉलर जब महारानी सरस्वती तक के वरेण्य पुत्र "काव्यपुरुष" का जन्म किसी घुनखाई प्राचीन पुस्तक में खोज निकालते हैं और 'कुमार' के विकासक्रम को तर्कपूर्ण अनुसन्धानों से शनैः शनैः उद्घाटित करते चलते हैं तो उन्हें 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर द्वारा वर्णित ब्रह्मा की आज्ञा से सम्पन्न पुत्र-जन्मोत्सव की याद अवश्य आ जाती होगी ! कहाँ वह ऐश्वर्य, कल्पना और वाग्विभूति से सम्पन्न चमचमाता जन्मोत्सव और कहाँ आज की दारिद्र्यपूर्ण पहाड़ की चढ़ाई जैसी शुष्क खोज ! ख़ैर, यह तो काल-क्रम से प्राप्त सरस्वती-देवी की विपत्ति की कहानी है। आज के इस मँहगे वैज्ञानिक युग में सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष तक के जन्मोत्सव में कल्पना, और वाग्विभूति जैसी मूल्यवान् वस्तुओं को देख-भाल कर खर्च करना पड़ेगा। अतः

ऊपरलिखित कवि के 'काव्य' में काव्य का "व्यवहारगत रूप" और विवेचन से सम्बन्धित संकेत, दोनों ही मिलते हैं। यहाँ पर हम क्रमशः इसी का उल्लेख करते हैं :—

[क] १. निम्न मन्त्र की उपमाओं को कालिदास व अश्वघोष की उपमाओं से मिलान करके देखिये। उनकी चित्रवत् मूर्तविधायिनी क्षमता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी—

(i) **सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।**
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवेवः ॥

(इन ऋषियों का तेज सूर्य के तेज की तरह, महिमा समुद्र की गहराई के समान अथाह और बल वायु-प्रवेग के समान होता है।......)

(ii) कालिदास दिलीप का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :—
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
(रघु० १।१२)

(सुविशाल वक्षवाला, वृष के समान स्कन्धवाला और शाल वृक्ष के समान प्रलम्बमान बाहुवाला......)

(iii) और नन्द-वर्णन में अश्वघोष कहते हैं :—
दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः ।
(दीर्घ भुजाओं वाला, महान् वक्षवाला इत्यादि)

२. वैदिक उक्ति की वक्रता की बानगी भी इस अन्योक्ति में दर्शनीय है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नभिचाकशीति ॥
॥१;१६४;२०॥

(दो पक्षी—आत्मा और परमात्मा – मित्रभाव से मिलकर एक ही वृक्ष—जड़ प्रकृति—पर बैठे हैं। उनमें से एक—जीवात्मा—स्वादु पिप्पाली को खाता है—प्रकृति का उपयोग करता है। दूसरा परमात्मा—

केवल द्रष्टा रूप से स्थित है)। इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धी वैदिक त्रैतवाद का निर्देश है।

३. प्रकृतिवर्णन में भी काव्य-दृष्टि रमणीय है। अशनिपात का आलङ्कारिक वर्णन कितना सुन्दर है :—

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह विभ्युषी नियत्सीं शिश्नथद् वृषा ॥

॥४. ३०. १०॥

(जब वृष्टिकर्त्ता वायुरूपी साँड ने इस मेघ-शकट पर प्रहार किया तब उस पर स्थित शकट-स्वामिनी दामिनी भयभीत होकर संचूर्णित मेघ-शकट से भाग निकली)। यहाँ पर वेद का कवि एक शुष्क वैज्ञानिक तथ्य को काव्यमय भाषा में प्रकट करता है।

४. आकाश के गायक मेघों के लिए भी कामना है—

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे ॥

॥ऋ० ५।५७।५॥

(कल्याणार्थ उत्पन्न ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर हो।)

[ख] अब काव्य-विवेचन सम्बन्धी कतिपय वैदिक संकेतों-को लीजिये :—

(*i*)······**सुबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा**······॥यजु०१०।१६।११॥

(जिसके विविध स्थलों में स्थित अन्तरिक्षस्थ लोक-लोकान्तर उपमाभूत हैं······)।

(*ii*) **यो अग्निः काव्यवाहन : पितॄन्**······॥ऋ० १०।१६ ११॥

(जो कवियों के लिए हितकारी, तेजस्वी ब्रह्मचारी है······)

(*iii*) **विधु दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।**

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१०।५।५५

इन उद्धृत मन्त्रों में "कवियों के लिये हितकारी काव्य और उपमा सभी मौजूद हैं।"

वेदों के सिवाय ब्राह्मणादि ग्रन्थों में हमारे काम की सामग्री प्रायः नहीं है। हाँ, महाकाव्य-काल के रामायण और महाभारत में काव्य के सभी अङ्गों की सुन्दर परम्परा पाई जाती है। रामायण के बालकाण्ड में नव-रसों का उल्लेख मिलता है :—

रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ॥
वीरादिभिः रसैर्युक्तं काव्यमेतद्गायताम् ॥

यद्यपि अधिकांश विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं तो भी रामायण में काव्यशास्त्र के विवचेन की सामग्री का अभाव नहीं है। आदि कवि का प्रथम छन्दोच्चारवाला उपाख्यान अवश्य ही काव्य की मूल प्रेरक शक्ति क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में है।

निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीसमाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

क्रौञ्चमिथुन में से एक का वध हो जाने पर क्रौञ्ची की वियोग-कातर अवस्था ने कवि-हृदय में वेदना का सञ्चार किया ; इस प्रकार उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोक-रूप में सामने आ गया। कवि स्वयमेव काव्यस्फुरण की इस घटना का पर्यालोचन कर बताते हैं कि—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकः भवतु नान्यथा—

सिवाय कविता के यह और कुछ भी नहीं है। दूसरों ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया —

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

॥ ध्वन्यालोक ।१।५॥

काव्यालोचन के सिद्धान्तों की मूलभूत समस्या, जो भारतीय चिन्तकों को सदा सताती रही है, यही है कि काव्य की आत्मा क्या है? सभी प्रश्न इस एक ही प्रश्न के समाधान की प्रतीक्षा में हैं। आदिकवि ने

अपनी तात्त्विक दृष्टि से इसका व्याख्यान सर्वथा मौलिक ढंग से कर दिया। यही व्याख्यान हमारे काव्यालोचन की आधारभूत भित्ति बना। इसी कारण वाल्मीकि को आदिकवि कहा गया। डा० नगेन्द्र के अनुसार उक्त व्याख्यान से निम्न काव्य-सिद्धान्त निष्कर्ष रूप से हमें प्राप्त होते हैं :—

(i) काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है। सैद्धान्तिक शब्दावली में काव्यात्मा भाव या रस है।
(ii) काव्य, अपने मूल रूप में, आत्माभिव्यक्ति है।
(iii) कवि रसस्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
(iv) भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

कहना न होगा कि उक्त चारों सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन के भव्य भवन के आधार-स्तम्भ बन गये हैं।

महाकाव्यों के पश्चात् शब्दशास्त्र के ग्रन्थों में भी काव्य-सिद्धान्तों का प्रासङ्गिक व्याख्यान मिलता है। यास्काचार्य ने वैदिक कोष निघण्टु और निरुक्त में सम्पूर्ण क्रियाओं का षड्भावविकारों में समाहार, शब्दों का नित्यत्व प्रतिपादन, देवताओं के भक्तिसाहचर्य-प्रकरण में छन्दों का विभाजन एवं निर्वाचन और उपमाओं का विवेचन करने के द्वारा काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी प्रकार पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि के व्याकरण में काव्यशास्त्र-सम्मत 'उपमित', 'उपमान' और 'सामान्य' का उल्लेख है। हमारे वैयाकरणों ने शब्दशास्त्र का जिस वैज्ञानिक प्रौढ़ता से निर्माण व सम्पादन किया है उस सबसे यही प्रतीत होता है कि काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी विवेचन उसी प्रणाली पर होता रहा होगा ; क्योंकि काव्यशास्त्र शब्दविचार के अन्तर्गत ही है। इस तथ्य की स्वीकृति 'काव्य-प्रकाश' में यह कहकर—'**बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भा-**

वितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य"—की है। यहाँ पर वे स्पष्टतया बताते हैं कि उन वैयाकरणों के ही मतानुसार अन्यों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञापक शब्द अर्थ दोनों को ही 'ध्वनि'-काव्य माना है।

व्याकरण की तरह भारतीय दर्शनशास्त्र भी अपनी सूक्ष्मवीक्षण शक्ति तथा परिपूर्णता के लिए विख्यात है। प्राचीन समय में अध्ययन की परिपाटी गुरू को केन्द्र मानकर चलती थी। शिष्य अपने गुरू के दार्शनिक सिद्धान्तों का कट्टर अनुयायी होता था। इसी में उसका शिष्यत्व था। ऐसे शिष्य जब व्याकरणादि अन्य क्षेत्रों में पहुँचते थे तो वे उन शाखाओं के सिद्धान्तों की व्याख्या अपने दार्शनिक मतों के अनुकूल करते थे। इस प्रकार व्याकरणादि और दर्शन के सिद्धान्त परस्पर मँज-घुल कर गुँथे हुये हैं। सिद्धान्तों के इस परिमार्जन का क्षेत्र काव्यशास्त्र तक भी अवश्य विस्तृत हो गया होगा। इसी कारण हम बाद को भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त आदि को देखते हैं ; ये सभी क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य और वेदान्त दर्शनों के अनुयायी थे और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में ही काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन करते थे। अतः व्याकरण व दर्शन ग्रन्थों की शैलियों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पण्डित विभिन्न शास्त्रों के क्षेत्र में दिग्विजय कर अपने दार्शनिक मत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के लिये अवश्य लालायित रहते होंगे। अतः काव्यशास्त्र में भी उनका प्रसार अवश्य रहा होगा। यह बात तब अनुमान कोटि से बढ़कर सिद्ध तथ्य तक जा पहुँचती है जब हम भरत को अपने 'नाट्यशास्त्र' में कृशाश्व व शिलालिन् जैसे काव्यशास्त्राचार्यों का उल्लेख करते हुए पाते हैं।

अभी तक हमने यह देखा कि काव्यपुरुष के चरणचिह्न सभी प्राचीन ग्रन्थों में अधिकता से पाये जाते हैं। परन्तु उसका मूर्त्त साक्षा-

त्कार भरत के नाटचशास्त्र के रूप में ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में ही आकर होता है। तथापि काव्यशास्त्र के अनुशीलन की परिपाटी भरत से प्राचीनतर है।

नाट्यशास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र का स्वतन्त्ररूपेण दर्शन

'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि साहित्य-शास्त्र का प्रथम उपदेश शिव ने ब्रह्मा को किया, ब्रह्मा से दूसरों को मिला। और यह भी निर्देश किया कि उसके अठारह अधिकरणों के अठारह आदि-प्रवक्ता कौन-कौन थे? रस-प्रकरण के विषय में—"**रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर**" – कहकर रस का आदि व्याख्याता नन्दिकेश्वर को बताया है। यह बात सम्भव हो सकती है, क्योंकि नन्दिकेश्वर का उल्लेख अन्य अनेक लेखकों ने भी किया है। अभिनवभारती में अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं—"**यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्नदृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः**......" अर्थात् नन्दिकेश्वर की कृति को हमने देखा नहीं है परन्तु उनके मत के विषय में कीर्तिधर को प्रमाण मान लिया है। इसी प्रकार प्राचीन अभिलेखों में 'सुमति' नामक किसी विद्वान् के 'भरतार्णव' नामक ग्रन्थ का, जो नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ था, उल्लेख पाया जाता है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में तो स्पष्टतया यह बताया गया है कि नन्दिकेश्वर ने भरतमुनि को नाटचशास्त्र का उपदेश दिया। इस सबके अतिरिक्त नाटचशास्त्र में रस-सिद्धान्त का व्याख्यान संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रौढ़ एवं वयःप्राप्त प्रतीत होता है। अतः यह मान लेना कि रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन भरत के पूर्व समय से ही होता चला आया था सर्वथा तर्कसंगत है, चाहे हमारे पास एतद्विषयक नाटचशास्त्र के सिवाय और कोई प्राचीनतर ग्रन्थ न भी हो।

इतना ही नहीं, संस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में अनेक उद्धरण ऐसे भी हैं जिनसे भरत के पूर्व हुए अन्य अनेक आचार्यों और

उनके ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। नान्यदेव ने अपने भरतभाष्य (नाटयशास्त्र की टीका) में मतङ्ग, विशाखिल, कश्यप, नन्दिन् और दन्तिल आदि पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में—'**पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य**......" इस प्रकार से पुरातन आचार्यों का स्मरण किया गया है।

इन अवस्थाओं में राजशेखर की साक्षी के सहित नन्दिकेश्वर को आदि आचार्य माननेवाली किम्वदन्ती, भरत द्वारा कृशाश्व व शिलालिन् नामक पूर्वाचार्यों का उल्लेख और भामह व दण्डीकृत मेधाविन् व कश्यप का स्मरण इत्यादि सभी के होते हुए भी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ नाटयशास्त्र को ही मानना पड़ता है; क्योंकि उक्त किम्वदन्ती, उल्लेख और स्मरणमात्र तत्तद् ग्रन्थों के अभाव में कोई विशेष सहायता नहीं कर सकते। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करके चलना पड़ेगा कि हमारा यह ऐतिहासिक अध्ययन अपूर्ण ही है।

भरत का नाट्यशास्त्र

नाटयशास्त्र आकार व महत्त्व दोनों की दृष्टि से विशाल ग्रन्थ है। उसका मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नहीं। तथापि नाटक के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ प्रसङ्गवश छठे और सातवें प्रकरण में रस का निदर्शन भी है। "**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**"—यह प्रसिद्ध सूत्र भरत का ही है। सोलहवें प्रकरण में अलङ्कारनिरूपण संक्षिप्त ही है। नाटयशास्त्र पर अनेक टीकाएँ भी हैं, परन्तु उन सबमें अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' सर्वाधिक विद्वत्तापूर्ण है।

शैली की दृष्टि से इसमें सूत्र, कारिकाएँ और भाष्य का क्रम विद्यमान है। श्लोकों के साथ कहीं-कहीं गद्यखण्ड का भी समावेश है। यद्यपि नाटयशास्त्र का कुछ अंश बहुत बाद का मालूम होता है तो भी कुछ भाग निश्चय ही ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से भी पूर्व का दीखता है।

सम्भव है कि वर्तमान नाटयशास्त्र किसी प्राचीनतम कृति का विकसित रूप हो।

नाटयशास्त्र का कर्त्ता भरतमुनि को बताया जाता है। डाक्टर काणे का अनुमान है कि नाटयशास्त्र किसी भरत नाम के व्यक्ति ने नहीं अपितु भरतों (नटों) ने संगृहीत कर नटों के कुल को महत्त्व प्रदान करने के लिए महामुनि के नाम से विख्यात कर दिया। यह तो कह ही चुके हैं कि नाटयशास्त्र की रचना विभिन्न प्रकार की है। अतः यह स्पष्ट है कि वह अनेक प्रकार से अनेक समयों में अनेक आचार्यो द्वारा सम्पादित होता रहा है। इस प्रकार उसका रचनाकाल ई० पू० २०० से लेकर ई० पू० ३०० तक निर्धारित होता है।

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थों में भरतमुनि का नाटयशास्त्र ही प्राचीनतम है—इस स्थापना के विपरीत कुछ लोग अग्निपुराण को सामने लाते हैं और 'काव्यप्रकाशादर्श' में से महेश्वर के इस कथन को उद्धृत करते हैं—"गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।" परन्तु अग्निपुराण को देखने से ज्ञात होता है कि वह भामह, दण्डी, और ध्वन्यालोक आदि से भी अर्वाचीन है। उसमें ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख होने से ही यह बात स्पष्ट है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् ईसा की सातवीं व आठवीं शती में भामह और दण्डी दो प्रमुख आचार्य हुए। बीच के काल में काव्यशास्त्र-विषयक प्रगति का इतिहास अभी तक अन्धकार में ही है। परन्तु इतना निश्चित है कि इस समय भी काव्यशास्त्रानुशीलन की परिपाटी का क्रम यथापूर्व जारी था। भामह ने अपने से पूर्व हुए आचार्यों के ग्रन्थों का निर्देश किया है—"इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतयो मया बहुविधिकृतीर्दृष्ट्वान्येषां स्वयं परितर्क्य च···"इत्यादि। मेधाविन् नाम के आचार्य का तो उसने दो बार उल्लेख किया है और

उसके बताये हुए उपमा-दोषों की गणना की है —"त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिताः।" परन्तु मेधाविन् के ग्रन्थ की उपलब्धि न होने से उनके विषय में आगे कुछ नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त ईसा की छठी शताब्दी में दो ऐसे ग्रन्थ निर्मित हुए जो वास्तव में काव्यशास्त्र-विषयक नहीं; फिर भी उनमें साहित्य-विवेचन को स्थान दिया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने तृतीय खण्ड में प्रायः नाट्यशास्त्र का अनुकरण करते हुए नाट्य और काव्य का विवेचन किया है। इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी काव्य-विवेचन पाया जाता है।

इतने से निम्न दो बातों का पता चलता है :—

(i) इस समय काव्यशास्त्र का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित था, जिसके कारण उसको पुराणों और व्याकरण-ग्रन्थों में भी स्थान दिया गया।

(ii) भरत के नाट्यशास्त्र को अपने विषय का प्रमाण-कोटि का ग्रन्थ माना जाता था, इसीलिए उसे विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कर्ता ने आधार बनाया।

भरत ने रस का उल्लेख वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में किया है। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यों ने रस को नाटक तक ही सीमित समझा। इसीलिए हम देखते हैं कि भामह यद्यपि रस-सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित थे तो भी उन्होंने काव्यात्मा अलङ्कार को ही स्वीकृत किया। भामह का समय ८वीं शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार भामह रस-विरोधी प्रथम आचार्य हुए, जिन्होंने 'अलंकार-सम्प्रदाय' की स्थापना की। हम देखेंगे कि भामह के अनुयायी दण्डी, उद्भट और रुद्रट हुए जिन्होंने उनके मत का अनुसरण किया। आचार्य भामह ने अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एवं कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा। उनके मत में वक्रोक्ति (काव्या-

त्मक अभिव्यञ्जना), जो अलंकार के मूल में रहती है, से रचना और कल्पना दोनों के सौन्दर्य की वृद्धि होती है। भामह ने रसों को रसवत्, प्रेयस् और ऊर्जस्वित् अलंकारों में समाहित किया है। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है और सभी अलंकारों के मूल में वह रहती है। वक्रोक्ति से भिन्न प्रणाली स्वभावोक्ति है; पर उसमें काव्यत्व नहीं है। भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है।

दण्डी का काल सातवीं शती बताया जाता है। इन्होंने वैदर्भी और गौड़ी नामक दो रीतियों, दस गुणों और पैंतीस अलंकारों का कथन किया है। दण्डी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है जो रीति-सम्प्रदाय और अलंकार मतों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि दण्डी ने भरत का अनुसरण करते हुए काव्याङ्गों के विवेचन को ही महत्त्व दिया, जब कि भामह ने अलङ्कार-सम्प्रदाय का मण्डन किया। दण्डी ने रसों को भामह की ही तरह अलङ्कारों में समाहित किया है। परन्तु रसवर्णन है विस्तार से। दण्डी का रीति और गुण-विषयक दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भ-गौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥
वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि॥

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'अलङ्कारसारसंग्रह' के रचयिता आचार्य उद्भट हुए। यद्यपि ये भामह के मतानुयायी थे तो भी अलङ्कार-सम्प्रदाय में इनके आचार्यत्व का प्रामाण्य सर्वोपरि है। अतएव इनके विरोधी आचार्यों तक ने इनका उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है। अर्थ, श्लेष, संघटना आदि से सम्बद्ध इनके स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं जिनका उल्लेख परवर्ती आचार्य इनके नाम से कर गये हैं।

इनके ग्रन्थ 'अलङ्कारसारसंग्रह' में ६ वर्ग और ७९ कारिकाएँ

हैं। इन्होंने ४१ अलङ्कारों की गणना की है। अलङ्कारों के उदाहरण स्वरचित हैं। आचार्य मुकुल के शिष्य कोङ्कण निवासी प्रतीहारेन्दुराज ने अलङ्कारसारसंग्रह पर 'लघुवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो अलङ्कार-ग्रन्थों पर की गई टीकाओं में सर्वप्रथम होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इनका काल ९५० ई० के आसपास स्थिर होता है।

इसके बाद रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन हुए और 'काव्यालंकार सूत्र' की रचना की। इनका काल ७५० ई० से लेकर ८०० ई० तक के बीच माना जा सकता है। 'काव्यालंकार सूत्र' में सूत्र, वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरण इन्होंने दूसरे कवियों के संगृहीत किये हैं।

वामन ने बड़े साहस के साथ प्रचलित अलंकार-सम्प्रदाय के विपरीत **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** की उद्घोषणा की। इन्होंने गौड़ी, पाञ्चाली और वैदर्भी इन तीन रीतियों की प्रतिष्ठा की। नाम यद्यपि प्रदेशविशेष पर अवलम्बित हैं, परन्तु उनका सीमाक्षेत्र सर्वथा स्वतन्त्र है। बाद के कुछ विद्वानों ने रीतियों की संख्या दस तक पहुँचा दी; परन्तु रीति का सम्बन्ध जब गुण नामक तत्त्व से जुड़ गया तो इस संख्यावृद्धि पर कम ज़ोर हो गया। रीति-सम्प्रदाय में पद-रचनावैशिष्ट्य की प्रधानता होने से पदरचना के गुणों और दोषों का विवेचन भी ज़ोर पकड़ने लगा। प्रारम्भ में दोषों के अभाव को ही गुण माना गया, परन्तु बाद को गुणों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। गुणों और दोषों की संख्या भी घटती-बढ़ती रही; परन्तु अन्त में गुण तीन ही—माधुर्य, ओज, प्रसाद—माने गये। रस-सम्प्रदाय का अपना महत्त्व चला ही आता था; उसकी उपेक्षा रीति-सम्प्रदाय भी न कर सका, अतः अलङ्कारवादियों की तरह इन्होंने भी रस को गुणों के भीतर समाविष्ट करने की चेष्टा की।

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सातवीं-आठवीं सदी में अलङ्कार

और रीति मतों का बड़ा ज़ोर एवं स्पर्धा थी। रीतिमत में गुणों और दोषों के विस्तृत विवेचन के फलस्वरूप गुण-सहित निर्दोष पद-विन्यास को काव्यात्मा माना गया।

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना ८२५ ई० और ८७५ ई० के मध्य में की होगी। इन्होंने सर्वप्रथम वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलङ्कारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। इनका अलङ्कार-विवेचन भी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। रस का भी ये महत्त्व स्वीकार करते हैं—**"तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।"** तथापि ये अलङ्कारवादी ही थे। इनकी दृष्टि में रीतियाँ चार हैं। नमिसाधु की 'काव्यालंकार' पर टीका है।

नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की रचना के कारण 'काव्यशास्त्र' के इतिहास में युगान्तर पैदा हो गया। इस महान् ग्रन्थ को टीकाकार भी उतना ही महान् मिला। अभिनवगुप्ताचार्य ने दसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस पर 'लोचन' नाम की टीका लिखकर ग्रन्थ के गौरव में चार चाँद लगा दिये। डा० काणे ने 'ध्वन्यालोक' और उसकी टीका 'लोचन' के विषय में कहा है— "अलंकारशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक युगान्तरकारी कृति है; अलङ्कारशास्त्र में इसकी वही महत्ता है जो व्याकरण में पाणिनि के सूत्रों और वेदान्त में वेदान्तसूत्रों की।.........और अभिनवगुप्त की टीका पतञ्जलि के महाभाष्य और शंकराचार्य के वेदान्तभाष्य के तुल्य है।"

ध्वन्यालोक में १२९ कारिकाएँ, वृत्ति अर्थात् भाष्य और पूर्व कवियों के श्लोक उदाहरण रूप में संगृहीत हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार भागों (उद्योतों) में विभक्त है। 'ध्वन्यालोक' से पूर्व रस-सिद्धान्त एक प्रकार से अव्याप्ति दोष से घिरे हुए होने की-सी स्थिति में था। 'नाटयशास्त्र' में रस का कथन जिस ढंग से किया गया है उससे यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक था कि उसका सम्बन्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों

की उपस्थिति के क्षेत्र मे ही है। इस पर अलङ्कारवादियों और रीति-मतानुयायियों की बाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि मे काव्यात्मा का प्रश्न हल होता हुआ नहीं दिखाई दिया। फुटकर आकर्षक पद्यों के विषय में यह शंका बार-बार उठती रही होगी कि इनमें काव्यत्व की व्याख्या कैसे सम्भव है ? इन सभी शंकाओं का सुन्दर और व्यवस्थित समाधान ध्वनिकार ने 'रस-सिद्धान्त' के मन्तव्य को ज़रा और अधिक विकास देकर 'ध्वनि-सिद्धान्त' के रूप में प्रस्तुत किया। अतः यह कहा जाना कि 'ध्वनि-सिद्धान्त' 'रस-सिद्धान्त' का ही विकसित रूप है, सर्वथा उचित है। रस के सम्बन्ध में यह मन्तव्य स्थिर किया गया था कि वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही होता है। इसी बात को ज़रा आगे बढ़ाकर 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार रखा गया कि सर्वोत्तम काव्य वह है जिसमें लावण्ययुक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है।

'ध्वन्यालोक' ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य और भी किया; उसने काव्य के सभी प्रतिपाद्य विषयों का उचित रीति से समन्वय किया। अतः 'ध्वनि-सिद्धान्त' एक प्रकार से सर्वमान्य-सा हो गया। परन्तु इस स्थिति में पहुँचने तक उसे प्रतिहारेन्दुराज, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, भट्ट-नायक और महिमभट्ट जैसे आचार्यों की तीव्र समालोचना का लक्ष्य बनना पड़ा। 'ध्वन्यालोक' का रचनाकाल ८६० ई० से ८९० ई० के बीच स्थिर होता है।

नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' और मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक दो रचनाएँ और भी मिलती हैं। "काव्यमीमांसा" कवियों को विविध प्रकार की जानकारी देनेवाला एक कोष के किस्म का ग्रन्थ है। इसमें १८ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्यपुरुषोत्पत्ति-सम्बन्धी आलङ्कारिक वर्णन है। विभिन्न कवियों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत श्लोक और आचार्यों के मन्तव्यों का भी अच्छा संग्रह है। राजशेखर कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (महीपाल)

के गुरु थे। इनकी पत्नी का नाम अवन्तिसुन्दरी था। मुकुलभट्ट प्रतीहारेन्दुराज के गुरु थे। इनके ग्रन्थ में कुल १५ कारिकाएँ हैं, जिनमें अभिधा और लक्षणा नामक दो शब्द-शक्तियों का विवेचन है।

अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत का 'काव्यकौतुक' अभी तक अनुपलब्ध है। इसका रचनाकाल ९५० ई० और ९८० ई० के बीच में अनुमानित होता है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में उद्धृत उद्धरणों के आधार पर उनके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि रस-सिद्धान्त का इसमें मुख्यतया प्रतिपादन था। नाट्यशास्त्र के सम्बन्धित स्थलों का भी इसमें स्पष्टीकरण रहा होगा। यह भी मालूम होता है कि आचार्य भट्टतौत अनेक साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी स्वतन्त्र सिद्धान्तों के प्रतिपादक थे। अभिनवगुप्ताचार्य स्थान-स्थान पर "इत्यस्मदुपाध्यायाः" कहकर उनके मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भट्टतौत ने अभिनवगुप्त के ऊपर और इसीलिए रस-सिद्धान्त के विवेचन में भी, महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

उनके कतिपय साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं —

१. शान्त रस मोक्षदायक होने से सर्वोपरि है—**"मोक्षफलत्वेन चायं (शान्तो रसः) परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः।"—लोचन।**

२. **"प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायः"—लोचन।**

३. जब कवि अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा पाठक को विषय का 'प्रत्यक्षवत्' करा देता है, रसानुभूति तभी होती है।—**"काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।"—लोचन**

४. रसानुभूति कवि, नायक, और सहृदय सामाजिक को समान रूप से होती है —**"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः"—लोचन।** अर्थात् रस-स्थिति कवि, नायक और पाठक तीनों में है।

इसके बाद ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थ विरोधी आचार्य भट्टनायक हुए। इन्होंने ध्वनि-मत-खण्डन के लिए 'हृदय-दर्पण' लिखा जो अभी तक अप्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध चार प्रमुख व्याख्याताओं में इनका नाम अन्यतम है। इन्होंने शब्द में अभिधा, भावना और भोगीकृति (रस-चवर्णा या भोग) ये तीन शक्तियाँ स्वीकार कर भोगीकृति को काव्यात्मा माना तथा ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में न मानते हुए उसे स्व-संवेद्य और अनिर्वचनीय ही माना। इनका समय ६३५ से ६८५ ई० तक माना जाता है।

इसी समय आचार्य कुन्तक ने भी ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन के लिए 'वक्रोक्तिजीवित' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इसमें कारिकाएँ, वृत्ति और विभिन्न कवियों के लगभग ५०० उद्धरण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य कुन्तक की कृति मौलिकता और उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि की परिचायिका है। आचार्य भट्टतौत की तरह ये भी उत्तम काव्य का मूल स्रोत कवि की अपनी प्रतिभा को ही मानते हैं। इनके मत में वक्रोक्ति (=विचित्र अभिधा=प्रसिद्ध कथन की अपेक्षा विलक्षणता लानेवाली जो विचित्रता है वही वक्रता है—"**वक्रत्वं प्रसिद्धाभिधान-व्यतिरेकि वैचित्र्यम्।**" अथवा सरल शब्दों में कहे तो कवि के चातुर्य या विदग्धता से चमत्कार पैदा करनेवाली वाणी वक्रोक्ति है) ही काव्य में जीवन सञ्चार करने के कारण काव्यात्मा है। वक्रोक्ति के बिना काव्यत्व की सत्ता असम्भव है। परन्तु जब तक कवि में कल्पनामयी प्रतिभा न होगी, वक्रता नहीं आ सकती। अतः 'कविव्यापार' पर बहुत जोर दिया है।

कुन्तक ध्वनि या व्यंग्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते, वे इन्हें भी वक्रोक्ति की सर्वव्यापिनी सीमा में बिठाना चाहते हैं। इनका काल ६२५ ई० से १००० ई० तक कहा जा सकता है।

सोने में सुगन्धि की कल्पना सभी किया करते हैं, परन्तु इनका

सच्चे अर्थों में साक्षात् दर्शन अभिनवगुप्तपादाचार्य के चरित्र में ही होता है। भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण से सच्चे कवि और समालोचक के आदर्श स्वरूप का दर्शन भारत की इस महान् विभूति में पाया जाता है। वे न केवल उच्च कोटि के प्रतिभासम्पन्न कवि ही थे अपितु साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य और प्रखर बुद्धि के दार्शनिक भी थे। उनके तपे हुए उज्ज्वल चरित्र की सुगन्धि अन्तर्वेद से काश्मीर तक सम्पूर्ण आर्यावर्त में व्याप्त थी। दार्शनिक दृष्टि, साहित्य-मर्मज्ञता, कवित्व और आस्तिकत्व व तप का ऐसा एकत्र संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा पण्डितराज जगन्नाथ या फिर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ में ही पाई जाती है। डा० काणे ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"Abhinavagupta is one of the most remarkable personalities of medieval India. He was a man of very acute intellect and was an encyclopaedic scholar."

अभिनवगुप्त का रचनाकाल ९८० ई० से १०२० ई० तक माना जा सकता है। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन अनेक गुरुओं से किया था। नाट्यशास्त्र के इनके गुरु भट्टतौत थे। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इनकी रचनाएँ तन्त्र, स्तोत्र, नाट्य और दर्शन आदि कई वर्गों में बाँटी जा सकती हैं। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं। भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' पर भी 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी थी।

दसवीं शती के अन्तिम चरण में राजा मुञ्ज की सभा के अन्यतम रत्न धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की। यह ग्रन्थ नाट्य से सम्बन्ध रखता है, परन्तु इसमें रस का विवेचन भी प्रसंगवश मिलता है।

'ध्वनि-सिद्धान्त' का प्रत्याख्यान करनेवालों में राजानकमहिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' भी प्रसिद्ध है। वे 'ध्वन्यालोक' की मान्यता के मूल में

ही आक्षेप करते हुए व्यञ्जना शक्ति का निषेध करते हैं। उनके मत में शब्द की एक ही शक्ति—अभिधा—है। प्रतीयमान अर्थ अनुमान की क्रिया द्वारा उपलब्ध होता है। अतः शब्द और अर्थ व्यञ्जक नहीं हो सकते। इनका काल १०२० से लेकर ११०० ई० तक माना जा सकता है।

ग्यारहवीं शताब्दी (१००५ ई० से १०५४ ई० तक) में महान् विद्या-व्यसनी भोजराज हुए, जिन्होंने मध्यकालीन प्रचलित सभी विद्याओं पर ८४ ग्रन्थ रचे। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'श्रृङ्गारप्रकाश' नामक दो वृहद् ग्रंथ काव्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। ये स्वयं तो काव्यमर्मज्ञ थे ही परन्तु कवियों के आश्रयदाता भी थे। 'श्रृङ्गारप्रकाश' में इन्होंने केवल श्रृंगार को ही रस माना है—"श्रृङ्गारमेकमेव श्रृङ्गारप्रकाशे रसमुररीचकार"। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' भारी संग्रह-ग्रन्थ है। भोजराज की प्रशस्ति में यह कथन बड़े महत्त्व का है—

साधितं, विहितं, दत्तं, ज्ञातं तद् यन्न केनचित्।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥

'ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवित' दोनों में 'औचित्य' की चर्चा है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥—ध्वन्यालोक

इसी बात को लेकर क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रन्थ रच डाला। इसमें कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण हैं। इनके मत में 'औचित्य' ही रस का आधारभूत है—"**औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।**" क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' आदि और भी ग्रन्थ रचे, परन्तु अलङ्कारशास्त्र में इनका कोई महत्त्व विशेष हो, यह बात नहीं। इनका समय ९९० ई० से १०६६ ई० तक है।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यप्रकाश"

के कर्त्ता मम्मटाचार्य हुए। इनके ग्रन्थ की महत्ता इस बात में है कि शताब्दियों से होनेवाली काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी साधना के सार को १४३ कारिकाओं में ऐसे व्यवस्थित ढंग से रख दिया कि सब कुछ पुराना होते हुए भी सर्वथा नवीन हो गया। डा० काणे के शब्दों में 'काव्यप्रकाश' साहित्यशास्त्र में 'शारीरकभाष्य' और 'महाभाष्य' की तरह नवीन प्रेरणाओं का स्रोत बन गया है। मम्मट ने अपनी अर्थगर्भित शैली में नाट्य-विषय को छोड़कर सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के प्रतिपाद्य को समेट लिया है। यह ग्रन्थ अपनी सर्वग्राहिता के कारण भारतभर में लोकप्रिय हो गया और भगवद्गीता के बाद सर्वाधिक टीकाएँ इसी पर उपलब्ध है। महेश्वर ने 'भावार्थचिन्तामणि' में कहा है—

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः ॥"

मम्मटभट्ट काश्मीरी ब्राह्मण मालूम पड़ते हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ भरत की हैं; मम्मट केवल वृत्तिकार हैं। परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं है।

रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' अलंकार-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी रचना ११३५ से ११५० तक मानी जाती है। रुय्यक ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों में से हैं। जयरथ ने इस पर 'विमर्शिनी' टीका लिखी है। जयरथ १३वीं शती के प्रथम चरण में रहा होगा। रुय्यक ने इसके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाशसंकेत', 'नाटकमीमांसा', 'साहित्य-मीमांसा', 'व्यक्तिविवेकविचार' 'सहृदयलीला' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इन सबसे यह मालूम पड़ता है कि इनके समय में काव्यशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन काफी बढ़ गया था। बारहवीं शताब्दी में ही वाग्भट प्रथम, हेमचन्द्र, जयदेव और विद्याधर आदि विद्वानों ने क्रमशः 'वाग्भटालंकार', 'काव्यानुशासन', 'चन्द्रालोक' और 'एकावली' आदि संग्रह-ग्रन्थ लिखे। वाग्भट जैन विद्वान् थे और वहीं पर राजकीय मन्त्री थे।

चौदहवीं शताब्दी में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' और 'काव्यानुशासन'

के कर्त्ता क्रमशः विद्यानाथ और वाग्भट द्वितीय हुए। इन कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन राजाओं के यशोगानवाली परिपाटी इस समय शुरू हो चुकी थी और कवि लोग 'किसी भोज' की तलाश में घूमते नजर आने लगे होंगे। परन्तु इसी शताब्दी में (१३०० ई० से १३८४ तक) 'साहित्यदर्पण' के प्रख्यात कर्त्ता विश्वनाथ हुए, जिन्होंने एक ही ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र तक को समेट लिया। विश्वनाथ उड़िया ब्राह्मण थे और संस्कृत के सिवाय प्राकृत के भी विद्वान् थे। यद्यपि इनका ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' संग्रह-ग्रन्थ ही है फिर भी उसका अपना महत्त्व है। आनन्दवर्धन, मम्मट और जगन्नाथ के ही समान विश्वनाथ का भी स्थान काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' नामक दो ग्रन्थ प्रस्तुत किये। परन्तु इनका महत्व विशेष नहीं है। हाँ, रूपगोस्वामिन् के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थों का महत्त्व इसलिए है कि इन्होंने चैतन्य की भक्ति-धारा से प्रभावित होकर भक्ति-रस को इस सिद्धान्त के अन्तर्गत महत्त्व दिलाने के लिए इनकी रचना नवीन शैली से की। रूपगोस्वामिन् का समय १४७० से १५५४ तक माना जा सकता है। रूपगोस्वामिन् की पद्धति न तो संस्कृत में और ना ही हिन्दी के भक्ति-काव्य में प्रतिष्ठित हो सकी।

सोलहवीं शताब्दी में केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' और अप्पय-दीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक', 'कुवलयानन्द' और 'चित्रमीमांसा' नामक काव्यशास्त्र से सम्बन्धित तीन ग्रन्थ लिखे। अप्पयदीक्षित का समय १५५४ से १६२६ ई० माना जाता है। ये धुरन्धर विद्वान् थे और इन्होंने शताधिक ग्रन्थों की रचना की है। ये तामिल ब्राह्मण थे। इनका 'चित्रमीमांसा' आलोचनात्मक एवं गम्भीर शैली का ग्रन्थ है।

संस्कृत-साहित्यमहोदधि में अपने चिन्तन के सार की सरिता को उँडेलने वाले धुरन्धर विद्वानों की महान् शृङ्खला की महान् अन्तिम

रस-सम्प्रदाय

'रस' शब्द की जीवन-यात्रा दर्शनीय है। वेदों के सोमरस से चलकर आधुनिक हिन्दी के ठेठ 'रसिया' तक हज़ारों वर्षों में युगों की दीर्घता को तय करनेवाले इस पथिक ने अपने मनोरंजक इतिहास का निर्माण किया है। इतने लम्बे समय में इसने अपने रूप और आशय को जिस प्रकार सुरक्षित रखा है वह आश्चर्य का विषय है। अनुभव और ज्ञान की गरिमा को लेकर भी प्रौढ़ पुरुष जिस प्रकार अपनी सम्पूर्णता की एकता का प्रतीक होता है उसी प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्माशय होता गया भी रस शब्द अपने अर्थ की मूल भावनाओं का सदा प्रतिनिधि बना रहा है। रस के इतिहास को देखकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इसका अर्थ स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता रहा तो भी सभी अवस्थाओं में इसके अर्थ की मूल भावनाएँ अपरिवर्तित ही रहीं। वे ये हैं—

रस शब्द की यात्रा

(क) द्रवत्व (ख) स्वाद और (ग) सार या निष्कर्ष। वैदिक सोम रस का रस शब्द जिस प्रकार द्रवत्व, स्वाद और निष्कर्ष का द्योतक है उसी प्रकार 'गन्ने के रस' में प्रयुक्त रस भी उक्त तीनों भावों का सूचक है।

व्याकरण के आधार से व्युत्पत्ति द्वारा भी उक्त भावों का स्पष्टीकरण होता है :—

(क) **सरते इति रसः** (जो बहता है)।

(ख) **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः** (जिनका आस्वाद लिया जाता है)।

(ग) और तीसरा भाव सोमरस एवं गन्ने के रस में है ही—क्योंकि दोनों किसी द्रव्य को निचोड़कर प्राप्त किये गये हैं।

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में 'रस' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से हुआ मिलता है :—

(क) "रसा दधीत वृषभम्।"

(ख) "यस्य ते मद्यं रसम्।"

(ग) "भरद्धेनुरसवच्छिश्रिये।"

इन तीनों मन्त्र-खण्डों में रस शब्द दुग्ध (स्वादयुक्त द्रव), सोमलता का निष्कर्ष रूप द्रव और 'मधुर-आस्वाद-युक्त' इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

उपनिषदों में भी यह शब्द अधिकता से प्रयुक्त हुआ है :—

(क) "प्राणोहि वा अङ्गानां रसः" (प्राण निश्चय से अङ्गों का सार तत्त्व है।) ॥बृहदारण्यक॥

(ख) "जिह्वया हि रसं विजानाति।" (जिह्वा से आस्वाद को जानता है) ॥ बृहदारण्यक ॥

(ग) "न जिघ्रति न रसयते।" (न सूँघता है न आस्वाद लेता है) ॥ प्रश्नोपनिषद् ॥

आगे चलकर उपनिषदों में ही 'रस' शब्द के सार और आस्वाद इन दो अर्थों के मेल से एक नवीन अर्थ—'सर्वोत्तम आस्वाद अर्थात् आनन्दात्मक अनुभव'—का प्रस्फुटन हो गया। और 'रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः' इस प्रकार उसका अर्थ किया गया—

(क) "रसो वै सः" (वह निश्चय से सारभूत आनन्दात्मक है) ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥

(ख) "रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" (यह सारभूत आनन्द को ही प्राप्त करके आनन्दित होता है) ॥ तैत्तिरी० ॥

(ग) "एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तस्सत्त्वमेवेरितं रसः। स संप्रास्रवत्।" (रामकृष्ण की टीका में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है——'तत्परेणात्मना पूर्ववदीरितं' सत्त्वमेव, न तमोरजसी! तयोः वक्ष्यमाणार्थाभिव्यञ्जकत्वासामर्थ्यात्। रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः········स संप्रास्रवत् सम्यक् प्राकट्येन

अस्रवत् । सत्त्वमेव चिदात्मनो विशेषाकाराभिव्यक्तियोग्याकारतया प्रसृतम् । सदात्माकारमेव विप्रसृतमित्यर्थः ।'

॥ मैत्र्युपनिषद् ॥

उपनिषदों में 'रस' शब्द को उस ''पूर्ण आनन्द'' के आस्वाद में प्रयुक्त देखकर, जिसका योगी आत्मसाक्षात्कार के समय अनुभव करते हैं, साहित्यिक समालोचकों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे इस शब्द का उस कलात्मक आनन्द (Æsthetic Pleasure) के अर्थ में प्रयोग करें, जिसका शिष्ट तथा सहृदय दर्शक उस समय अनुभव करते हैं जब वे निपुण अभिनेताओं के अभिनय से प्रदर्शित, पात्र, परिस्थिति, तथा घटनाओं में आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो जाते हैं ।

रस-सिद्धान्त का क्रमिक इतिहास

काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उसका प्रारम्भ ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' की रचना के साथ होता है । यहीं सर्वप्रथम 'रस' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग भी मिलता है । उन्होंने वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में -''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''—इस सूत्र का कथन किया है । विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के नाटक में ही प्रत्यक्ष होने के कारण कतिपय परवर्ती आचार्यों ने इसका क्षेत्र नाटक तक सीमित मान लिया । इस कारण अलङ्कारवादियों द्वारा परिचालित संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास की धारा इसके सिवाय और तत्त्वों में काव्यात्मा खोजती हुई बह चली । विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलङ्कार, रीति, गुण और वक्रोक्ति को काव्यात्मा ठहराते हुए विवेचन किया । परन्तु रस की स्वयंसिद्ध विशिष्ट सत्ता के कारण ज्यों-ज्यों ये विवेचन आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों रस का महत्त्व स्पष्ट होता गया । इसी अवसर पर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए अलङ्कारवादियों की बाह्यसाधनामूलक भ्रान्तियों का अन्त कर

दिया। उन्होंने ध्वनि के अन्तर्गत रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि ये तीन विभाग किये, फिर भी इनमें प्रधानत्व रस को ही दिया और उसकी अव्याप्ति का भी परिहार कर दिया, जिससे स्फुट पद्यों में भी काव्यत्व प्रतिष्ठित हो सका।

इसके पश्चात् अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक व्याख्यान करते हुए तद्विषयक अनेक भ्रान्तियों को स्पष्टतया सुलझाया, जिससे रस-सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ।

काव्यशास्त्र में रस का स्थान

अन्ततोगत्वा ईसा की दसवीं शती में आचार्य मम्मट आदि विद्वानों ने ध्वनि आदि सभी काव्य-तत्त्वों का उचित समाहार करते हुए काव्य-शास्त्र को व्यवस्थित किया एवं रस को उसके स्थान पर समाविष्ट किया। उनके काव्य के लक्षण की यह विशेषता है कि अलङ्कार और गुण आदि का सम्यक् स्थान-निर्देश कर समन्वय किया गया है। देखिये—"**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि**॥" अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थों में तो दोष तो होवे ही नहीं, गुण अवश्य हों, चाहे अलङ्कार कहीं-कहीं न भी हों। काव्य के उन्होंने (१) उत्तम (ध्वनि-काव्य) (२) मध्यम और (३) अधम ये तीन भेद किये। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं:—

(*i*) उत्तम काव्य—"**इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।**" अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के उत्कर्ष-वाला होने पर काव्य विद्वानों के द्वारा उत्तम कहा गया है।

(*ii*) मध्यम काव्य—"**अतादृशि गुणीभूतव्यंग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।**" अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के ऐसा न होने पर (वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के अधिक उत्कर्षवाला न होने पर) किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत (अप्रधान रूप से) होकर प्रतीयमान होने पर, काव्य मध्यम कहा गया है।

(*iii*) अधम काव्य—"**शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्य त्ववरं स्मृतम्।**'

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ से रहित शब्दचित्र और वाच्यचित्र वाला काव्य अधम कहा गया है।

तत्पश्चात् उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों के भेदों का निरूपण कर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया। उत्तम काव्य के प्रथम दो भेद किये हैं—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणा-मूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। इसमें प्रथम के दो भेद (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य होते हैं। और दूसरे विवक्षितान्यपरवाच्य के (१) संलक्ष्यक्रमध्वनि और (२) असंलक्ष्यक्रमध्वनि ये भेद किये। बस यहाँ आकर उन्होंने असंलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रसंग में रस का विस्तृत विवेचन किया है। कोष्ठक द्वारा भी उक्त भेद समझे जा सकते हैं :—
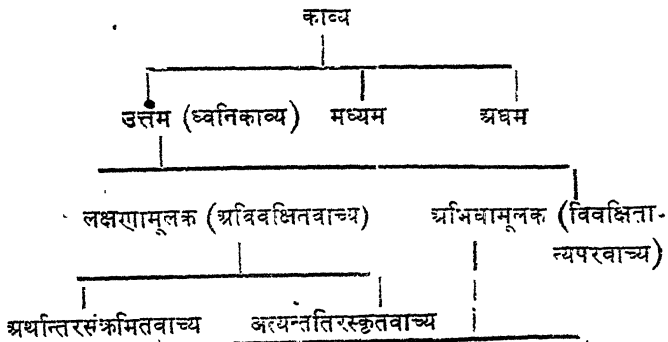
उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त के लिए काव्यशास्त्र भरतमुनि के नाटचशास्त्र पर ही निर्भर है। अतः दसवीं शती में आकर मम्मट ने इसके निरूपण के लिए भरत का वही सूत्र—'**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**'—रखा। इसका सामान्य

रस का निरूपण

अर्थ है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभावादि क्या है, इसका स्पष्टीकरण निम्न कारिकाओं में करते हुए रस की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया :—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

लोक में इत्यादि स्थायीभावों (ललनादि विषयक प्रीति-इत्यादि-रूप अविच्छिन्न प्रवाहवाले मानसिक व्यापारों) के जो आलम्बन (प्रीति के आश्रयभूत ललना आदि) और उद्दीपन (प्रीति के पोषक चन्द्रोदय आदि) नामक दो कारण, तथा कटाक्ष, भुजाक्षेप, आलिङ्गन आदि कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्य, और शीघ्रता से उनकी प्रतीति करानेवाले निर्वेदादि सहकारी भाव हैं। वे यदि नाटक और काव्य में प्रयुक्त हों तो उन्हें क्रमशः विभाव (स्वाद लेने योग्य), अनुभाव (अनुभव में लाने योग्य) और व्यभिचारी भाव (विशेष रूप से हृदय में सञ्चार कराने योग्य) कहते हैं। इन्हीं विभावादि के संयोग होने पर व्यञ्जनावृत्ति से अभिव्यक्त स्थायीभाव रस कहाता है। विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार स्पष्ट किया है :—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥ साहित्यदर्पण॥

भाव अनुभाव और व्यभिचारी क्या हैं?

इसको जरा खोलकर रखने की आवश्यकता है। इस विविध संसार में मनुष्य नाना प्रकार के पदार्थों को देखता, सुनता और अनुभव करता है। इन अनुभवों के संस्कार, जिन्हें वासना भी कहते हैं, मन में सञ्चित होते रहते हैं। अनुभूति क्षणिक होने से नष्ट हो जाती है, परन्तु संस्कार जन्म-जन्मान्तर के इकट्ठे होते रहते हैं। अतः

ये संख्यातीत हैं, इनकी गणना नहीं की जा सकती। फिर भी प्राचीन आचार्यों ने इनका भय, अनुराग (रति), करुणा (शोक), क्रोध, आश्चर्य, उत्साह, हास, घृणा (जुगुप्सा) और निर्वेद के रूप में वर्गीकरण करने का यत्न किया है। ये संस्कार अन्तःकरण के भाव भी कहे जा सकते हैं। प्रेक्षक के मन में स्थित ये ही भाव रसों के बीजभूत हैं।

इसके अतिरिक्त 'भाव' शब्द पारिभाषिक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार देवता, गुरु, राजा आदि विषयक रति तथा प्रधान रूप से व्यञ्जित व्यभिचारी को भी भाव कहते हैं।

भाव

इस प्रकार भाव संज्ञा निम्न तीन की हुई—[१] उद्‌बुद्धमात्र (जो रसत्व को प्राप्त नहीं हुए ऐसे) संस्कार [२] देवादिविषयक रति या प्रेम और [३] प्राधान्येन ध्वनित होने वाले संचारी।

संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ साहित्यदर्पण॥

रस-परिपाक-प्रक्रिया में उद्‌बुद्धमात्र संस्कारों के दो भेद—[१] स्थायीभाव और [२] संचारीभाव किये गये हैं। जो सजातीय एवं विजातीय भावों से विच्छिन्न न हों, अर्थात् जिनमें स्थिरता हो वे स्थायीभाव कहाते हैं। मनोवैज्ञानिकों की भाषा में इन्हें मूलभाव (Sentiments) कह सकते हैं। इसके सिवाय जो भाव सामयिक रूप से बीच-बीच में संचरण कर स्थायी भावों को पुष्ट करें वे संचारीभाव हैं। विश्वनाथ ने स्थायी और संचारी भावों का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

स्थायीभाव

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥
—साहित्यदर्पण।

अर्थात् अविरुद्ध एवं विरुद्ध भाव जिसका गोपन न कर सकें और आस्वाद के अंकुर का जो मूलभूत हो वह स्थायीभाव है।

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
व्यभिचारी **स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥**
भाव **—साहित्यदर्पण ॥**

स्थायीभाव में उन्मग्न (आविर्भूत) निर्मग्न (तिरोभूत) होकर संचरण करने वाले भाव विशेष प्रकार से अभिमुख होकर—अनुकूल होकर—चलने के कारण व्यभिचारी कहे जाते हैं। ये तैंतीस हैं। अस्तु।

उपर्युक्त भावों में आस्वादन की योग्यता का अंकुर विभावों के आश्रय से प्रादुर्भूत होता है। विभाव भी दो प्रकार के हैं—(१) आलम्बन, जो भावों के आलम्बन बनते हैं, जैसे नायक-नायिका आदि और (२) उद्दीपन, जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते हैं, जैसे वसन्त, उद्यान, चन्द्रोदय आदि।

भावजागृति के पश्चात् होने वाले अंगविकारों को अनुभाव कहते हैं। अनुभावों से नायक-नायिका को एक-दूसरे के भावों को जानने में सहायता मिलती है। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार कर सकते हैं—अनु पश्चात् भावान् भावयन्ति बोधयन्ति इति अनुभावाः। विश्वनाथकृत अनुभावों का लक्षण है—

अनुभाव क्या हैं ?

"यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै-रामादिरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन्कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।" साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद ।

अर्थात् सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से राम आदि के हृदय में उद्बुद्ध रति आदि का बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में रति का जो कार्य कहाता है वही काव्य और नाटक में अनुभाव है। उद्बुद्ध रति आदि के प्रकाशक कार्य निम्न हो सकते हैं—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्काराः अङ्गजाश्च स्वभावजाः ।
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ॥ सा० द० ॥

अर्थात् स्त्रियों के अंगज तथा स्वभावज अलंकार, सात्त्विक भाव और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहाती हैं। सारांश यह कि आलम्बन तथा आश्रय के कार्य अनुभाव हैं। परन्तु यहाँ पर इतना विवेक करना अभीष्ट है कि रस को उद्दीप्त करने वाली चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत मानी जायेंगी। जैसे कटाक्ष यदि रस को उद्दीप्त करने वाला हो तो वह उद्दीपन विभाव है, अन्यथा यदि वह उद्बुद्ध रति का प्रकाशकमात्र है तो उसे अनुभाव ही समझना चाहिए। जैसा कि रसतरंगिणी में कहा है—"**ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावाः कटाक्षादयः कारणत्वेन। कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वं, विषयत्वेनोपद्दीपनविभावत्वम्।**"

अनुभाव अनन्त हो सकते हैं। तो भी उनका विभाजन किया गया है जो निम्न कोष्ठक से स्पष्ट हो सकेगा–

(**अगले पृष्ठ पर देखें**)

अनुभाव

१ स्त्रियों के यौवन के अलंकार [२८]	१ अंगज	हाव, भाव, हेला	...३	२८
	२ अयत्नज	शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य	...७	
	३ स्वभावज	लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विकृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि ...	...१८	
२ सात्त्विक भाव	(अन्तःकरणस्य धर्मविशेषः सत्त्वः, तस्य भावः सात्त्विकः)	स्तम्भ, प्रस्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, अश्रु, प्रलय, वैवर्ण्य	८	
३ कायिक		विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ	अनन्त	
४ मानसिक		प्रमोद आदि मनोवृत्तियाँ	,,	
५ वाचिक		उक्ति रूप में प्रकट किए गये कार्य	,,	
६ आहार्य		वेश-विन्यास आदि	,,	

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के सम्मिलित रूप से नट द्वारा उपन्यस्त किये जाने पर दर्शक के मन में एक तीव्र आनन्दानुभूति का संचार होता है। यही रस या काव्यानन्द है। रस-अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करने के लिए विद्वान् लोग निम्न प्रकार से उदाहरण दिया करते हैं: —

रस-निष्पत्ति क्रम

"वेश-भूषा आदि से सुसज्जित नट-नटी दुष्यन्त और शकुन्तला का रूप धारण करके दर्शक के सामने आते हैं। रमणीय तपोवनकुञ्जों में दुष्यन्त और शकुन्तला का सम्मिलन होता है (दुष्यन्त और शकुन्तला परस्पर आलम्बन विभाव और तपोवन की प्रफुल्लित लताकुञ्जें आदि उद्दीपन विभाव हैं)। दोनों एक-दूसरे के रूप-लावण्य पर मोहित हो उत्सुक नेत्रों से रूप-रस का पान करते हैं। प्रथम दृष्टिपात के पश्चात् शकुन्तला को जब सुध होती है तो वह आरक्तमुख होकर चल देती है, परन्तु हृदय की उत्कण्ठा को न दबा सकने के कारण तिरछी नज़र से दुष्यन्त को देखती जाती है। (प्रेमी-प्रेमिका का परस्पर मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त-मुख होना आदि अनुभाव हैं)। आश्रम में जाकर विरहतप्ता शकुन्तला प्रिय की स्मृति से कभी चिन्तित, कभी निराश और कभी अनमनी हो उठती है और क्षणभर के लिए प्रिय-मिलन की कल्पना से आनन्दविभोर हो जाती है (आकस्मिक रूप से उठकर विलुप्त होने वाले स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि भाव व्यभिचारी हैं)। ठीक समय पर काम करने वाली प्रियंवदा आदि सखियों के सत्प्रयत्न से शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनर्मिलन होता है।"— रंगशाला के कलापूर्ण भव्य वातावरण में संगीत, कविता आदि नाट्य-धर्मियों के सहयोग से जब यह सम्पूर्ण दृश्य (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग) प्रेक्षक के सामने आता है तो उसके हृदय

अनुभाव

- १ स्त्रियों के यौवन के अलंकार [२८]
  - १ अंगज — हाव, भाव, हेला ३
  - २ अयत्नज — शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ...७
  - ३ स्वभावज — लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विकृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि १८
  - } २८
- २ सात्त्विक भाव (**अन्तःकरणस्य धर्मविशेषः सत्त्वः, तस्य भावः सात्त्विकः**) स्तम्भ, प्रस्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, अश्रु, प्रलय, वैवर्ण्य ८
- ३ कायिक — विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ ... ... अनन्त
- ४ मानसिक — प्रमोद आदि मनोवृत्तियाँ ... ... ,,
- ५ वाचिक — उक्ति रूप में प्रकट किए गये कार्य ... ... ,,
- ६ आहार्य — वेश-विन्यास आदि ... ... ,,

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के सम्मिलित रूप से नट द्वारा उपन्यस्त किये जाने पर दर्शक के मन में एक तीव्र आनन्दानुभूति का संचार होता है। यही रस या काव्यानन्द है। रस-अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करने के लिए विद्वान् लोग निम्न प्रकार से उदाहरण दिया करते हैं: —

रस-निष्पत्ति क्रम

"वेश-भूषा आदि से सुसज्जित नट-नटी दुष्यन्त और शकुन्तला का रूप धारण करके दर्शक के सामने आते हैं। रमणीय तपोवनकुञ्जों में दुष्यन्त और शकुन्तला का सम्मिलन होता है (दुष्यन्त और शकुन्तला परस्पर आलम्बन विभाव और तपोवन की प्रफुल्लित लताकुञ्जें आदि उद्दीपन विभाव हैं)। दोनों एक-दूसरे के रूप-लावण्य पर मोहित हो उत्सुक नेत्रों से रूप-रस का पान करते हैं। प्रथम दृष्टिपात के पश्चात् शकुन्तला को जब सुध होती है तो वह आरक्तमुख होकर चल देती है, परन्तु हृदय की उत्कण्ठा को न दबा सकने के कारण तिरछी नज़र से दुष्यन्त को देखती जाती है। (प्रेमी-प्रेमिका का परस्पर मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त-मुख होना आदि अनुभाव हैं)। आश्रम में जाकर विरहतप्ता शकुन्तला प्रिय की स्मृति से कभी चिन्तित, कभी निराश और कभी अनमनी हो उठती है और क्षणभर के लिए प्रिय-मिलन की कल्पना से आनन्दविभोर हो जाती है (आकस्मिक रूप से उठकर विलुप्त होने वाले स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि भाव व्यभिचारी हैं)। ठीक समय पर काम करने वाली प्रियंवदा आदि सखियों के सत्प्रयत्न से शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनर्मिलन होता है।"— रंगशाला के कलापूर्ण भव्य वातावरण में संगीत, कविता आदि नाट्य-धर्मियों के सहयोग से जब यह सम्पूर्ण दृश्य (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग) प्रेक्षक के सामने आता है तो उसके हृदय

में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायीभाव उद्‌बुद्ध होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाते हैं जिससे कि वह देश-काल की सुध-बुध भूल-कर तन्मय हो जाता है। चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे 'आनन्दमयी चेतना' में निमग्न कर देता है। यही 'आनन्दमयी चेतना' रस है। कोष्ठक रूप में इसे हम निम्न प्रकार से रख सकते हैं:—

(अगले पृष्ठ पर देखें)

आद्याचार्य भरत के सूत्र के उपरिलिखित स्पष्टीकरण से यह बात निर्विवाद रूप से सामने आई कि रस आनन्दस्वरूप अर्थात् एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु सूत्र से यह स्पष्ट नहीं होता है ? कि रस की स्थिति किसमें रस की मूल-स्थिति का अन्वेषण करते हुए विभिन्न आचार्य सूत्रगत 'संयोग' और 'निष्पत्ति' इन दो शब्दों का व्याख्यान अपने अपने ढङ्ग से करते हैं। यदि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' की वैज्ञानिक व्याख्या सामने आ जाय तो रस की मूल स्थिति किसमें है, और रस का स्वरूप क्या है, इन दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विज्ञान-सम्मत उत्तर मिल जायेगा; क्योंकि रस-परिपाक की प्रक्रिया में उक्त दोनों शब्दों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही रस-सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप दे सकती है।

भरत मुनि का सूत्र तथा रस-प्रक्रिया

सामान्यतया देखने पर यह प्रतीत होता है कि रस की स्थिति किसमें है। इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है; और वह यह कि रसस्थिति स्पष्टतया दर्शक में है। वही रस का भोक्ता है; क्योंकि दर्शक ही नाटक देखने जाता है। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर "साहित्य की अत्यन्त मौलिक समस्या--"रस का मूल भोक्ता कौन है ?"—प्रश्न बनकर सामने आ जाती है। नाटक और काव्य से सम्बद्धित सिर्फ दर्शक ही नहीं है, अपितु कविकृत पात्र, पात्रों की भूमिका लेने वाले नट-नटी और कविकृत पात्रों के मूल पुरुष (ऐतिहासिक दुष्यन्त आदि) सभी हैं। आज का अध्येता मनोविज्ञान की 'टार्च' लेकर बडी सूक्ष्मता से रस-स्रोतों की खोज करता है और प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने भी एतद्विषयक वड़ी माथापच्ची की है।

अतः अब हमारा अध्ययन दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्रथम

तो हमें यह देखना है कि रस-परिपाक-प्रक्रिया में 'संयोग' और

प्रस्तुत प्रश्न

और 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ है, जिससे यह स्पष्ट हो जाये कि रस की स्थिति किसमें है ? द्वितीय रस का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?

[१] रस-भोक्ता कौन है और रस की स्थिति किसमें है ?

भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जिन प्रमुख विद्वानों ने किया है उनमें भट्टलोल्लट सर्वप्रथम हैं। ये मीमांसक

मीमांसकसम्मत भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

विद्वान् थे। रस की व्याख्या करते हुए इन्होंने मूल रसस्थिति ऐतिहासिक नायक-नायिका में मानकर प्रश्न को उलझा दिया। सामाजिक में रसानुभूति को गौण स्थान देना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन्होंने दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्द अनुभव करने की मान्यता की स्थापना कर मानव-सुलभ-सहानुभूति के तत्त्व को महत्त्व प्रदान किया है, तथा नट-नटी में भी रस की स्थिति को मानकर अभिनयकला की सफलता के लिए उनके तल्लीन हो जाने के मान्य सिद्धान्त की स्थापना की है। भट्टलोल्लट का मत निम्न प्रकार से है :—

"(विभावैः) ललना उद्यानादि आलम्बन व उद्दीपन कारणों से (जनितः) उत्पादित, एवं (अनुभावैः) भुजाक्षेप आदि कार्यों से (प्रतीति-योगः कृतः) जानने योग्य किया गया और (व्यभिचारिभिः) निर्वेदादि सहकारियों से (उपचितः) पुष्ट किया गया (रत्यादिकोभावः) जो रत्यादि स्थायीभाव है सो, (मुख्यया वृत्त्या) वास्तविक सम्बन्ध से तो (रामादावनुकार्ये) रामादि अनुकार्यों में और (तद्रूपतानुसन्धानात् नर्त्तकेऽपि) अनुकार्य के सादृश्य का अनुसन्धान करने के कारण नट में भी (प्रतीयमानः) प्रतीत होने वाला, (रसः) रस है।"

इसका विश्लेषण करने से रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से मालूम पड़ता है :—

१. रामादि नायक-नायिका रूप अनुकार्यों में विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन), अनुभाव व सहकारी कारणों से स्थायीभाव क्रमशः उत्पन्न, उद्दीप्त, प्रतीत और पुष्ट होता है। यही स्थायीभाव रस है। और अनुकार्यो में ही उत्पन्न होने के कारण प्रधान रूप से उन्हीं में स्थित होता है।

२. जब नट-नटी रंगमंच पर अनुकार्यों का अनुकरण करते हैं तो सामाजिक नटों में भी अनुकार्यों और उनके रस का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण उसे रस प्रतीत होने लगता है।

३. सामाजिक को रस की प्रतीति से ही रस (आनन्द) मिलने लगता है। अतः सामाजिक का रस प्रतीतिजन्य है।

इस पर से भट्टलोल्लट की निम्न मान्यताओं का पता चलता है :—

(क) रस की स्थिति मूल ऐतिहासिक नायक-नायिका में होती है। नट द्वारा इसे रंगमंच पर दिखाया जाता है। अतः नट में भी रस-स्थिति गौण रूप से है जो प्रेक्षक द्वारा आरोपित है। इसके बाद प्रेक्षक में रस-स्थिति प्रतीतिजन्य होती है, अर्थात् रस की वास्तविक स्थिति तो है नायक-नायिका में, और प्रेक्षक में है संक्रमित रूप से। नट माध्यम है।

(ख) 'ऐतिहासिक नायक-नायिका' और 'कवि-अंकित नायक-नायिका' में वह कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतस्तु सभी प्राचीन संस्कृत-विद्वानों की यही मान्यता रही है। उनकी वाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि ने कवि के व्यक्तित्व को कभी भी पूरी तरह नहीं आंका।

आधुनिक आलोचक कवि के व्यक्तित्व को महत्त्व देते हुए कवि की कृति को कवि की अनुभूति का मूर्त रूप मानते हैं। काव्य में जिन नायक-नायिकाओं का चित्रण किया जाता है वे ऐतिहासिक चरित्रों के प्रतिरूप

समझे जा सकते हैं। 'शाकुन्तलम्' में जो दुष्यन्त और शकुन्तला क्रीड़ा कर रहे हैं वे कालिदास की मानस-सन्तति हैं और मूल राजा दुष्यन्त और तापस-वन-विहारिणी शकुन्तला से भिन्न हैं। भट्टलोल्लट की सबसे बड़ी भ्रान्ति यही है कि वह उन्हें एक ही समझने के कारण ऐतिहासिक मूल नायक-नायिका में उत्पन्न रस को काव्य-अंकित नायक-नायिका में भी समझ लेता है। जब कवि-अङ्कित पात्र ऐतिहासिकों से भिन्न हैं तो काव्य में रस की स्थिति सम्भव ही नहीं बन पड़ती।

इसके अतिरिक्त लोल्लट की मान्यता में एक भारी कमी और भी है। यदि रस की स्थिति प्रधान रूप से लोक में चलते-फिरते मूल नायक-नायिकाओं में ही है तो कविकल्पना-जन्य पात्रों वाले काव्यों-नाटकों में भी रस सम्भव नहीं हो सकता।

कुछ लोग भट्टलोल्लट के मत पर यह भी आक्षेप कर सकते हैं कि नायका-नायिका को रसानुभव करते देख प्रेक्षक को आनन्दाभूति कैसे हो सकेगी? यदि शृंगार का प्रसंग हुआ तो क्या लज्जा का अनुभव नहीं होगा? परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस शंका का समाधान यह कहकर कर देते हैं कि मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्दानुभूति सम्भव हो जाती है।

एक प्रमुख आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि रस 'कार्य' कैसे हो सकता है? अर्थात् विभावादि कारणों का कार्य 'रस' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हम देखते हैं कि कारण के विनष्ट हो जाने पर भी कार्य रहता है; पर यहाँ ऐसा नहीं होता। यहाँ तो रस तभी तक रहता है जब तक विभावादि कारण रहते हैं। अतः विभावादि और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

लोल्लट के बाद उक्त सूत्र के व्याख्याता श्री शंकुक का मत रखा जाता है। ये नैयायिक थे। इन्होंने लोल्लट के मत पर यह आक्षेप कर

कि नायक के आनन्द को देखकर प्रेक्षक को आनन्दानुभूति नहीं हो सकती; वास्तव में मनोविज्ञान-सिद्ध सहानुभूति के तत्त्व का निषेध कर दिया। प्रेक्षक रस को अनुमान द्वारा प्राप्त करता है, इनकी यह बात भी लोगों को बहुत कम जँची। अतः इनके मत ने रस-सिद्धान्त की गुत्थी को सुलझाने में विशेष योग नहीं दिया। इन्होंने अपने मत को भारी शब्दाडम्बर के साथ रखा:—

नैयायिकसम्मत शंकुक का अनुमितिवाद

"दर्शक को नट में जो "यह राम है" (रामोऽयमिति) ऐसी प्रतीति होती है वह "राम ही यह है" "यही राम है" (राम एवाऽयम्, अयमेव रामः) ऐसे सम्यक् ज्ञान से, (उत्तरकालिके बाधे) पीछे से बाधित होने वाले (न रामोऽयमिति) "यह राम नहीं है" इस मिथ्या ज्ञान से, (रामः स्याद्वा न वाऽयमिति) "यह राम है अथवा नहीं है" इस संशय-ज्ञान से और (रामसदृशोऽयमिति) "यह राम के समान है" इस सदृशज्ञान से (विलक्षणः) विलक्षण है।

दर्शक द्वारा (नटे) नट में (चित्रतुरगादिन्यायेन) "चित्रलिखित घोड़े में घोड़े का ज्ञान होता है" इस न्याय से (रामोऽयमिति) "यह राम है" इस (प्रतिपत्त्या) ज्ञान के (ग्राह्ये) ग्रहण किये जा चुकने पर, नट "सेयं ममांगेषु" तथा "दैवादहमद्य" इत्यादि श्लोकों का पाठ करता है।

नट (इत्यादि काव्यानुसन्धानबलात्) उक्त काव्यसम्बन्धी अर्थों की प्रतीति के बल से तथा (शिक्षाभ्यासनिर्वर्तित) अभिनय के शिक्षण एवं अभ्यास के जोर से सम्पादित (-स्वकार्यप्रकटनेन च—) अपने कार्य को अच्छी तरह से प्रकाशित करके दिखाता है।

उस (नटेनैव) नट के द्वारा (प्रकाशितैः) प्रस्तुत किये गये (कारण-कार्यसहकारिभिः) कारण, कार्य और सहकारी भाव, जो (विभावादि-शब्दव्यपदेश्यैः) नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन शब्दों से निर्दिष्ट हैं, (कृत्रिमैरपि) बनावटी होने पर भी (तथानभिमन्य-मानैः—) वैसे अर्थात् मिथ्या भासित नहीं होते।

इन्हीं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के (संयोगात्) संयोग से रस (गम्यगमकभावरूपात्) ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव रूप से (अनुमीयमानोऽपि) अनुमित होता है और (वस्तुसौन्दर्यबलात्) सम्पूर्ण वातावरण रूप वस्तु के सौन्दर्य के बल से (रसनीयत्वेन—) समास्वादनयोग्य होता है।

रस (अन्यानुमीयमान:) सामाजिकों से अनुमीयमान होता हुआ भी (विलक्षण:) अनुमान से भिन्न होकर (स्थायित्वेन संभाव्यमान:) स्थायी रूप से चित्त में अभिनिविष्ट · बिंधा हुआ—होता है।

ये जो (रत्यादिर्भाव:) रत्यादि स्थायीभाव हैं वे (तत्रासन्नपि) नट में न होने पर भी (सामाजिकानां) दर्शकों की (वासनया) वासना द्वारा (चर्व्यमाण:) चर्वित होते हैं, आस्वादित होते हैं——यही भाव रस हैं।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया निम्न प्रकार समझी जा सकती है :—

(*i*) रामादि नायक-नायिका में स्थायीभाव होता है।

(*ii*) कारण, कार्य और सहयोगी कारणों के संयोग से वह स्थायीभाव (या मूलभाव) उन्हीं के द्वारा अनुभव किया जाता है।

(*iii*) इस सम्पूर्ण अवस्था का नट-नटी अभिनय करते हैं; अर्थात उनके कार्यों और भावों दोनों का अनुकरण करते हैं।

(*iv*) चित्र-तुरग-न्याय से दर्शक यह समझ लेता है कि मूलभाव के अनुभव किये जाने की अवस्था मेरे सामने मूल रूप से ही घटित हो रही है (जैसे कोहरे से आवृत्त प्रदेश को कोई व्यक्ति धूमावृत समझ लेता है)।

(*v*) इस अवस्था में प्रेक्षक नायक-नायिका के मूलभाव (स्थायीभाव-रत्यादि या रस) का भी अनुमान कर लेता है (जैसे दर्शक द्वारा कुहराछन्न प्रदेश को धूमावृत समझ लिये जाने पर वह वहाँ उसके सहचारी अग्नि का भी अनुमान कर लेता है)। यह अनुमित स्थायीभाव ही रस है जो अपने सौन्दर्य के बल से स्वाद का आनन्द

देता है और चमत्कृत करता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह अनुमित स्थायीभाव वास्तविक मूलभाव (नायकादि के रतिभाव) से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप है।
इस पर से इनकी निम्न मान्यताओं की सिद्धि सम्भव है :—

(क) प्राचीनों की तरह इन्होंने भी ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं में और कवि-निवद्ध नायक-नायिकाओं मे कोई अन्तर नहीं माना।

(ख) रस की स्थिति भी, लोल्लट की तरह, ये ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं में ही मानते हैं। नट-नटी द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण वस्तु को प्रेक्षक असली ही मान लेता है। फिर उसमें मूलभाव का अनुमान कर लेता है। अर्थात् रस का मूल भोक्ता ऐतिहासिक पुरुष है, प्रेक्षक का रस अनुमित है और नट-नटी माध्यम रूप से हैं। फलतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति।

(ग) और भरत स्थायीभाव और रस में कोई अन्तर नहीं मानते—ऐसा इनका विचार है।

शंकुक की प्रथम दो मान्यतायें वही हैं जो लोल्लट की थीं। अतः तद्विषयक पूर्वकथित दोष यहाँ भी ज्यों के त्यों हैं। अनुमिति का सिद्धान्त भी विज्ञानसम्मत नहीं। यदि प्रेक्षक अनुमान द्वारा रस का ग्रहण कर लेता है तो उसे रस-विषयक ज्ञान ही हो सकता है, रसानुभूति नहीं हो सकेगी ; क्योंकि अनुमान स्पष्टतया बुद्धि की क्रिया है।

इसके अतिरिक्त शकुक की यह मान्यता कि अनुकार्यों की अनुकृत दशा से स्थायीभाव का अनुमान प्रेक्षक कर लेता है, भी निराधार है; क्योंकि अनुमित पदार्थ से कार्यसिद्धि नहीं होती। कोहरे को धूम समझकर उसके सहचारी अग्नि का यदि अनुमान कर भी लें तो क्या ठण्ड दूर हो सकेगी ? अतः अनुमित स्थायीभाव दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा सकता।

भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक हैं। रस-सिद्धान्त के प्रतिपादकों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये मौलिक प्रतिभा के विद्वान् थे। रस की स्थिति को इन्होंनें विषयगत न मानकर विषयीगत माना। इनका यह क़दम लोल्लट और शंकुक की अपेक्षा अत्यन्त क्रान्तिकारी था, क्योंकि वे रसस्थिति को मूल नायक-नायिकाओं में ही मानते चले आ रहे थे और वहाँ से प्रेक्षक के हृदय में सिद्ध करने के लिए विविध कल्पनाजालों में उलझे पड़े थे। भट्टनायक ने सर्वप्रथम प्रेक्षक में रसस्थिति मानकर उस पचड़े का सफाया कर दिया। इसके अतिरिक्त 'साधारणीकरण' के असाधारण सिद्धान्त की उद्भावना कर रस-सिद्धान्त की वैज्ञानिक आधारशिला स्थापित कर दी।

सांख्यवादी भट्टनायक का भुक्तिवाद

लोल्लट (मीमांसक) और शंकुक (नैयायिक) की इस मान्यता पर कि नायक-नायिका के स्थायीभाव के साक्षात्कार से प्रेक्षक के हृदय में रस उत्पन्न या अनुमित होता है, भट्टनायक ने आपत्ति उठाई। उन्होंने कहा कि नायक के जिस प्रकार के भाव का साक्षात्कार प्रेक्षक करेगा, वैसा ही भाव उसके हृदय में भी उठ सकता है। दुःखद प्रसंग के प्राप्त होने पर नायक की तरह प्रेक्षक को भी दुःख ही होना चाहिए। अर्थात् शोक से शोक की ही उत्पत्ति होगी। पर ऐसा होता नहीं। प्रेक्षक दुःखद प्रसंग में भी आनन्दानुभूति करता है। अतः उक्त मत स्वीकार्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार ध्वनिकार के मत पर भी उन्होंने शंका उठाई। ध्वनिवादियों ने कहा कि प्रेक्षक के हृदय में संस्कार-रूप से स्थित स्थायीभाव विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त हो जाते हैं। भट्टनायक ने कहा कि इस अवस्था में आलम्बन (सीतादि) के प्रति जो नायक (रामादि) के भाव हैं वही प्रेक्षक में भी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

देखकर सीता के प्रति जगन्माता की ही भावना हो सकती है, स्त्री की नहीं। और फिर रति-शोकादि साधारण भावों की अभिव्यक्ति मान भी ली जाय, पर हनुमान एवं भीमादि के समुद्रलंघन जैसे अद्भुत पराक्रम-पूर्ण कार्यों को देखकर अल्पायतन प्रेक्षक में उन-जैसे वीर भावों की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

अतएव इन्होंने उक्त मतों का निरसन करते हुए अपने मत को इस प्रकार रखा :—

"(न ताटस्थ्येन) न तो तटस्थ—[उदासीन नट व रामादि नायक में]—और (नात्मगतत्वेन) न आत्मगत—[प्रेक्षकगत रूप में]—रूप मे (रसः प्रतीयते) रस की प्रतीत होती है, (नोत्पद्यते) न उनकी उत्पत्ति होती है, (नाभिव्यज्यते) और न उसकी अभिव्यक्ति [व्यञ्जकता द्वारा सिद्धि] होती है। (अपितु) किन्तु (काव्ये नाट्ये च) काव्यों और नाटकों में (अभिधातो द्वितीयेन) अभिधालक्षणा से भिन्न किसी अन्य (विभावादिसाधारणीकरणात्मना) विभावादि का साधारणीकरण करने वाले (भावकत्वव्यापारेण) भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा (भाव्यमानः स्थायी) असाधारण से साधारण किया गया जो स्थायीभाव है वह, (सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय) सत्त्वगुण के प्रवाह के वेग से आनन्दस्वरूप तथा (संविद्‌विश्रान्तिसत्त्वेन) अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर देने वाले—[अर्थात् विक्षेपरहित मनःस्थिति वाले]—(भोगेन) भोजकत्व नामक तृतीय व्यापार द्वारा (भुज्यते) उपभुक्त होता है—आस्वादित होता है। यह आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से हो सकता है :—

(i) रामादि (नायक-नायिका) में स्थायीभाव रत्यादि होता है।

(ii) कारण-कार्य और सहकारियों के संयोग से वह स्थायीभाव रामादि में उद्‌बुद्ध होकर उन्हें परितृप्ति प्रदान करता है।

(iii) यह सम्पूर्ण अवस्था नट के अभिनय द्वारा या—श्रव्य काव्य हुआ तो—काव्यानुशीलन द्वारा दर्शक के सामने आती है। तब उसे काव्यगत तीन शक्तियों—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—में से प्रथम अभिधा के बल से काव्यार्थ की अभिज्ञता होती है।

(iv) इसके अनन्तर दर्शन उस अर्थज्ञान का काव्यगत द्वितीय शक्ति—भावकत्व-के द्वारा भावन करता है। भावन का तात्पर्य है निर्विशेष रूप से चिन्तन, जिससे राम-सीता और उनकी पारस्परिक रति निर्विशेष रूप में रह जाती है। अर्थात् उनकी रति पुरुषमात्र की, स्त्रीमात्र के प्रति सहज स्वाभाविक रति के रूप में हो जाती है। इस प्रक्रिया को साधारणीकरण कहते हैं।

(v) नायक-नायिका की रति एवं विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर दर्शक में रजोगुण व तमोगुण का स्वतः लोप होकर सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व कार्य करती है। उसके द्वारा साधारणीकृत भाव व विभावादि के प्रेक्षक अपने स्थायीभावों का उपभोग करता है। रत्यादि का उपभोग या आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।

निष्कर्ष रूप से इनकी निम्न मान्यताएँ सामने रखी जा सकती हैं:—

[क] रस की स्थिति ये सीधी सहृदय में मानते हैं।

[ख] काव्य में तीन शक्तियाँ स्वाभाविक हैं—(१) अभिधा (जिसके द्वारा अर्थग्रहण होता है), (२) भावकत्व (जिसके द्वारा काव्यार्थ का निर्विशेष रूप से चिन्तन होता है), (३) भोजकत्व (जिसके द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है)।

[ग] इन्होंने भावकत्व की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए "साधारणीकरण" का उद्भावन किया।

[घ] काव्यानन्द की उद्रेकावस्था में तमोगुण और रजोगुण सर्वथा विलुप्त हो जाते हैं। केवल सत्त्व गुण का प्राध्यान्य हो जाता है। इसी अवस्था में रस का उपभोग होता है। अतः निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

साधारणीकरण

भट्टनायक साधारणीकरण के सिद्धान्त के आविष्कारक हैं। उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन के प्रसंग में काव्यगत द्वितीय शक्ति 'भावकत्व' की इस प्रकार व्याख्या की है। 'अभिधा' द्वारा काव्य के शब्दार्थ (भाव) के ग्रहण होने पर भावकत्व द्वारा इस अर्थ का (भाव का) भावन होता है; अर्थात् भाव की वैयक्तिकता विनष्ट हो जाती है। भाव विशिष्ट न रहकर निर्विशेष (साधारण) रह जाता है—यही भावन की प्रक्रिया साधारणीकरण है। उदाहरणार्थ काव्यद्वारा उपन्यस्त राम का सीता के प्रति रतिभाव भावन की प्रक्रिया द्वारा पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रतिभाव ही रह जाता है; यदि ऐसा न हो तो सीतादि में पूज्यबुद्धि के कारण सामाजिक को रसानुभूति न होवे।

भट्टनायक की साधारणीकरण-प्रक्रिया

साधारणीकरण के इस सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने भी इसी रूप में स्वीकार कर लिया। परन्तु 'भावकत्व' शक्ति को अनावश्यक ठहराते हुए व्यञ्जनावृत्ति से ही इसे सम्भव माना।

भट्टनायक की व्याख्या का तात्पर्य यह है। काव्य द्वारा उपन्यस्त आश्रय की वृत्ति (स्थायीभावादि) सभी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकृत रूप वाले विभावादि के संयोग से ही सामाजिक की रति भुक्त (भट्टनायक) या अभिव्यक्त (अभिनवगुप्त) होती है। केवल

आलम्बन का साधारणीकरण, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने माना है, नहीं होता। भट्टनायक का मत 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में इस प्रकार दिया गया है :—

"भावकत्वं साधारणीकरम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादि विशेषाणां कामि नीत्वादिसामान्येनोपस्थितः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्ध-विशेषानवच्छिन्नत्वेन।"

आचार्य शुक्ल जी ने "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" नामक निबन्ध में साधारणीकरण के विषय में लिखा है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।" शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के इस रूप की मान्यता का अनुवर्ती परिणाम यह होता है कि तथाविध आलम्बन के सामने आने पर रसोद्बोधन से पूर्व सामाजिक आश्रय से तादात्म्य कर ले। इसी दृष्टि से उन्होंने आगे लिखा है—"साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों (विश्वनाथ आदि) ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भावव्यञ्जना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

आचार्य शुक्ल का मन्तव्य

साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यता की व्याख्या कुछ इस प्रकार की जा सकती है। पूजनीय व्यक्तियों यथा सीतादि के भी आलम्बन रूप में चित्रित किये जाने पर रसानुभूति होती है; इसके प्रतिपादन के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रक्रिया का अनुसन्धान किया। उन्होंने साधारणीकरण का कारण

काव्यगत भावकत्व वृत्ति को माना, जो काव्य में स्वभावतः होती है। काव्य (कवेरिदं काव्यम्) कवि की कृति होता है। अतः यह भी स्पष्ट है कि काव्य में यह भावकत्व (साधारणीकरण करने की योग्यता) कवि द्वारा उत्पन्न की जाती है। जहाँ यह योग्यता नहीं वहाँ काव्यत्व भी न होगा। अतः साधारणीकरण कविकर्मसापेक्ष है। ध्यान रहे कि भावकत्व को स्वतन्त्र शक्ति न मानने की अभिनवगुप्त की अवस्था में भी उक्त कथन में अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि काव्यगत ही व्यञ्जना शक्ति से भावन वहाँ भी माना गया है। इस सापेक्ष होने की बात को ही आचार्य शुक्ल ने इस रूप में रखा कि किसी भाव के विषय (आलम्बन) को इस रूप में (सबके उसी भाव का आलम्बन हो सकने योग्य रूप में) लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। कवि ही 'आलम्बन' को इस रूप में लाता है। अतः साधारणीकरण आलम्बन का होता है। इसमें शुक्ल जी इतना और जोड़ देते हैं कि "...... ...साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है" (चिन्तामणि पृ० ३१३) —जिससे एक ही काव्य एक ही समय में अनेक जनों को रस दान करने में समर्थ होता है।

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में विभावादिकों के साधारणीकरण के साथ-साथ आश्रय के साथ तादात्म्य माना है—

> **व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।**
> **तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ॥**
> **प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।**

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का मत और ही है। उन्होंने शुक्ल जी के मत को अमान्य ठहराते हुए लिखा है—"साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया है कि विभाव और अनुभाव को साधारण रूप करके लाया जाय। पर साधारणीकरण तो कवि या भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध

रखता है। चित्त के साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। ·· हमारा हृदय साधारणीकरण करता है।"

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी पाठक की चित्तवृत्तियों के एकतान एकलय हो जाने को ही साधारणीकरण मानते हैं। उनके मन्तव्यानुसार

आचार्य श्यामसुन्दर का मन्तव्य

रसानुभूति ब्रह्मानन्दसहोदर है। इसमें उसी प्रकार आनन्दानुभूति होती है जिस प्रकार योगी को ब्रह्मानन्द की। योगी का आनन्द स्थायी और यह क्षणिक है। मधुमती भूमिका (चित्त की वह विशेषावस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीन की प्रतीति वितर्क है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है।) में पहुँचकर 'पर-प्रत्यक्ष' होता है। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रतिभा-ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। जब तक हमें सांसारिक पदार्थों का 'अपर-प्रत्यक्ष' होता रहता है तब तक उनके दो रूप—सुखात्मक या दुःखात्मक—हमारे सामने रहते हैं। परन्तु जब हमें वस्तु का पर-प्रत्यक्ष (तत्त्व-ज्ञान) होता है तब वस्तु रूप मात्र का सुखात्मक रूप ही आलम्बन बनकर उपस्थित होता है। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। यही साधारणीकरण है।

आपके विवेचन का सार इस प्रकार है :—

(i) रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है।

(ii) मधुमति भूमिका में ही पर-प्रत्यक्ष होता है। उस समय ही अनुभूति अखण्ड होती है।

(iii) चित्तवृत्ति की इसी अखण्ड और एकतानता का नाम साधारणीकरण है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पाठक के चित्त का साधारणीकरण माना, और आलम्बन के साधारणीकृत होने का निषेध किया। डा० नगेन्द्र की युक्तियों के अनुसार पाठक तो 'साधारणीकृत रूप का भोक्ता' है, अतः उसका साधारणीकरण नहीं माना जा सकता।

डा० नगेन्द्र का मत

इसके अतिरिक्त रसानुभूति की दशा में सामाजिक, आश्रय, आलम्बन और कवि (व्यवहित—इन्डाइरेक्ट रूप से) इन चार के व्यक्तित्व और उपस्थित रहते हैं। हमें इन्हीं में से देखना चाहिए कि साधारणीकरण किसका होता है? आश्रय का तो मान्य इसलिए नहीं कि अप्रिय नायक (रावण या जघन्य वृत्ति वाले पूँजीपति) से तादात्म्य करना रुचिकर नहीं होगा। अब रहा आलम्बन! काव्य में जो आलम्बन हमारे सामने आता है वह कवि की मानसी सृष्टि होता है—व्यक्तिविशेष नहीं, अपितु उसका प्रतिरूपमात्र समझना चाहिये। उनके शब्दों में—" जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण···।" ऐसे आलम्बन के सम्बन्ध में 'पूज्य-बुद्धि' होने की बाधा भी नहीं। "हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो; वह कवि की मानसी सृष्टि है···।" "अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण आचार्य कवि की अपनी अनुभूति का होता है···।" (**देखिये रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ४०**)

साधारणीकरण सम्बन्धी उपर्युक्त सभी मतों का सम्यक् विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक विद्वान् गुलाबराय जी इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रसानुभूति की दशा में पाठक अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़ने के कारण, कवि अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर लोक-प्रतिनिधि बनने के कारण, भाव 'अयं निजः परो

गुलाबराय का मत

वेति' की लघुचेतनों की गणना से मुक्ति पा जाने के कारण और आलम्बन (अपने व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित रहकर ही) व्यापक सर्वजन-सुलभ-सम्बन्धों के रूप में आ जाने के कारण साधारणीकृत हो जाता है।

साधारणीकरण आश्रय, आलम्बन, स्थायीभाव, कवि और सामाजिक में से किसका होता है, इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से दिया। जहाँ तक भट्टनायक के दृष्टिकोण का प्रश्न है, वे तो आलम्बन को ही प्रश्रय देते मालूम होते हैं, क्योंकि उनके सामने प्रश्न ही यह था कि सीतादि पूज्य व्यक्तियों के आलम्बन रूप में उपन्यस्त होने पर रसानुभूति कैसे होती है ? इस प्रश्न का स्वरूप भट्टनायक की दृष्टि की ओर स्पष्ट इशारा करता है। इसी का लक्ष्य करते हुए आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण सम्भव कैसे होता है इस रहस्य का व्याख्यान अपनी अन्तर्दर्शिनी बुद्धि से किया। आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के मत को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी समस्या बड़ी सीधी है, और अपनी दृष्टि पर ही उपयुक्त चश्मा चढ़ा लेने से सम्पूर्ण दृश्य अनुकूल दिखाई देने लगता है। परन्तु इसमें जो भी समझदारी है वह सामाजिक की ही प्रतीत होती है; कवि-कौशल या काव्य के चमत्कार को कुछ भी श्रेय नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में क्या काव्य और नाटक से बाहर भी साधारणीकरण सम्भव है ?—यह प्रश्न उठता है। हमारी समझ में इसे कोई भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा कि सामाजिक अपनी किसी तथाकथित विशिष्ट साधना के बल पर मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है। यदि यह कहा जाय कि सामाजिक उस अवस्था में कवि-कौशल अथवा आलम्बन के चमत्कार से पहुँचता है तो उसका तात्पर्य यही हुआ न कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है जिससे प्रेक्षक की वैसी दृष्टि

उपरिलिखित मतों का समाहार

मिल जाती है। वास्तव में मधुमती भूमिका में पहुँचने के लिए (एकतानलय होने के लिये) आलम्बन का रागमय तीव्र आकर्षण होना चाहिए। आलम्बन के इसी आकर्षण पर तो आचार्य शुक्ल जोर देते हैं।

डा० नगेन्द्र ने जो यह कहा कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है, वह इस प्रश्न का उत्तर है कि वस्तुतः आलम्बन आदि का मूल स्वरूप क्या है ? वैसे तो साधारणीकरण वे भी विभावादि सभी का ही मानते हैं। 'साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है' इस कथन में यह बात स्वीकृत है ही कि साधारणीकरण विभावादि सभी का होता है; चाहे वे विभावादि वास्तव में कवि की अनुभूति ही क्यों न माने जावें। अतः तात्त्विक दृष्टि से डा० नगेन्द्र और आचार्य गुलाबराय जी के मत में कोई भेद नहीं है।

इसके पश्चात् उक्त सूत्र के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याता अभिनवगुप्त हुए हैं। इन्होंने भट्टनायक की कई मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी भावकत्व और भोजकत्व नामक काव्यगत दो शक्तियों को निराधार बताया। इनके कथनानुसार उक्त दोनों शक्तियों का काम व्यंजना या ध्वनि से ही चल सकता है। जो 'भाव' (काव्यार्थ) है वह स्वतः ही भावित होने की योग्यता रखता है। क्योंकि जो भावना का विषय बने वही तो भाव है। ये भावित भाव व्यन्जना शक्ति द्वारा आश्रय के हृदय में स्थित रति को रस रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। इसी प्रकार 'रस' में भोग का भाव भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। जो भोग को प्राप्त हो सके वही तो रस है। अतः सूत्रगत संयोग का अर्थ व्यन्जित होना और निष्पत्ति का आनन्द रूप से प्रकाशित होना है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इन्होंने अपने मत का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया :—

"सर्वसाधारण, (लोके) लौकिक व्यवहारों में स्वतः प्राप्त रहने वाले (प्रभदाभिः) प्रमदा, उद्यान और कटाक्षनिर्वेदादि के द्वारा (स्थाय्यनुमानेऽभ्यास-) स्थायीभावों के अनुमान करने के विषय के अभ्यास में (पाटवताम्) कुशलता को प्राप्त हो जाते हैं।

(काव्येनाट्ये च) काव्य और नाटकों में (तैरेव) उन्हीं (कारणत्वादीनाम्) कारण-कार्य और सहयोगी कारणों का (परिहारेण) परित्याग कर दिया जाता है; और (विभावनादिव्यापारवत्त्वात्) विभावनादि व्यापार वाला होने के कारण (अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः—) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन अलौकिक नामों से पुकारा जाता है।

ये विभावादि "(ममैवैते) मेरे ही हैं (शत्रोरेवैते) शत्रु के ही हैं (न तटस्थस्यैवैते) उदासीन के ही हैं अथवा (न ममैवैते) मेरे ही नहीं हैं (न शत्रोरेवैते) शत्रु के ही नहीं हैं"—(इति) इस प्रकार के (सम्बन्धविशेषम्) सम्बन्धविशेष के (स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्) स्वीकार या परित्याग के नियमों का ज्ञान न रहने के कारण (साधारण्येन प्रतीतैः—) साधारणीकृत रूप में ही प्रतीत या ज्ञानगोचर होते हैं।

(सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः) सामाजिकों के चित्त में वासनारूप से स्थित (स्थायीरत्यादिकः) जो स्थायीरत्यादिक भाव है वह (नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि) निश्चित ज्ञातृ-गत—प्रेक्षकविशेष में—रूप में होता हुआ भी (साधारणोपायबलात्) साधारणीकृत विभावादि कारणों के बल से (तत्काल) नाटकदर्शन के समय में ही (विगलितपरिमितप्रमातृभाववश···) निश्चित ज्ञाता के भाव से भी विलग [अर्थात् प्रेक्षक आत्मसत्ता के ज्ञान से भी रहित हो जाता है] होकर (अभिव्यक्तः) अभिव्यञ्जित होता है।

(उन्मिषितः) इस प्रकार से प्रकाशित (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यः) इतर ज्ञान के सम्पर्क से रहित (अपरिमितभावेन) अनन्तभाव से

(सकलसहृदयसंवादभाजा) सभी सहृदयों के राग का पात्र होता हुआ (साधारण्येन स्वाकार इवाऽभिन्नोऽपि) साधारणीकृत होकर भी अपने रूप में अभिन्न ही जो रत्यादि स्थायीभाव हैं वह (प्रमातृगोचरीकृतः) सामाजिक द्वारा अनुभव का विषय होता है।

(चर्व्यमाणतैकप्राणः) चर्वण—आस्वादन—मात्र ही जीवन के स्वरूप वाला, (विभावादिजीवितावधिः) विभावादि की सत्तापर्यन्त जीवन की अवधि वाला (पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः) विलक्षण स्वादोत्पादक पानकरस-न्याय से आस्वादित होने वाला, (पुरः इव परिस्फुरन्) सामने ही निर्झरित होता हुआ, (हृदयमिव) प्रविशन् हृदय में समाता हुआ सा (सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्) सर्वाङ्ग को आलिङ्गन करता हुआ सा (अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्) अन्य सभी को तिरोहित करता हुआ सा (ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्) और ब्रह्मानन्द का आस्वादन कराता हुआ सा (अलौकिकचमत्कारकारी) लोकोत्तर चमत्कार का कर्ता (शृङ्गारादिको रसः) शृङ्गारादिक रस है।"

अभिनवगुप्त के अनुसार रस का परिपाक निम्न प्रकार होता है:—

"सामाजिक लौकिक व्यवहारों में रति के कार्य-कारणों का अनुभव करता रहता है, जिससे रति बार-बार अनुमित होती है। यह अनुमान की गई रति सहृदय सामाजिक के हृदय में संस्कार रूप से सन्निविष्ट हो जाती है।"—इस प्रकार के सामाजिक के सामने जब नट नकली कारण-कार्यादि (विभावादि) का विस्तार करता है तो वह काव्यार्थ के ज्ञान के पश्चात् उसका भावन व्यञ्जना शक्ति द्वारा करता है। फलतः विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। और रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्त्वगुण के उद्रेक की अवस्था में पूर्व कथित प्रकार से संस्कार रूप से विद्यमान सामाजिक के रत्यादि स्थायीभाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह रस की अभिव्यक्ति ही निष्पत्ति है।

अब हम इनकी मान्यताओं का समाहार इस प्रकार कह सकते हैं:—

परिपाक-प्रक्रिया विवेचन के लिए "शाकुन्तलम्" की—मूल ऐतिहासिक घटना से लेकर 'राष्ट्रीय रङ्गशाला' देहली में अभिनीत होकर प्रेक्षक को रस दान करने तक की—सम्पूर्ण क्रियाविधि का विश्लेषण करते हैं:—

(*i*) सर्वप्रथम अति प्राचीन समय में कण्व ऋषि के रम्य आश्रम में दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखकर अपने हृदय में रति का अनुभव अवश्य ही किया होगा।

(*ii*) इसके पश्चात् महाकवि कालिदास ने अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर महाभारत में वर्णित उक्त उपाख्यान को पढ़कर कल्पना के द्वारा उक्त रतिभाव का अनुभव किया होगा। मानव-सुलभ-सहानुभूति के कारण यह सर्वथा सम्भव है।

(*iii*) इसी प्रकार नाटक के शौकीन आधुनिक प्रेक्षक श्री अनिल और रम्भादेवी भी इतिहास पढ़कर कल्पना के द्वारा उस रति का अनुभव कर सकते हैं।

(*iv*) फिर महाकवि ने किसी स्मरणीय क्षण में उस स्मृतिशेष अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपने हृदय में पुनः जाग्रत किया होगा और 'शाकुन्तलम्' के रूप मे शब्दबद्ध कर सदा के लिए अमर बना दिया।

(*v*) जब 'भारतीय गणतन्त्र समारोह' के अवसर पर राष्ट्रीय रङ्गशाला में 'शाकुन्तलम्' का अभिनय किया गया तो अभिनेताओं ने भी उक्त रति का अनुभव किया होगा, क्योंकि श्रेष्ठ अभिनय के लिए उसमें तल्लीन होकर अनुभूति ग्रहण करना आवश्यक है।

(*vi*) नाटक के शौकीन हमारे परिचित अनिल और रम्भादेवी दोनों भी नाटक देखने अवश्य गये होंगे और उन्होंने भी उसी रति का अनुभव किया होगा।

इस प्रकार ये छः अनुभूतियाँ हुईं। इनमें 'रस' अनुभूति किसे कहें, यही विचारणीय है। देखने से पता चलता है कि ये अनुभूतियाँ तीन प्रकार की हैं:—

(*i*) प्रत्यक्ष अनुभूति—दुष्यन्त और शकुन्तला की अनुभूति ऐसी ही है।

(*ii*) कल्पना में प्रत्यक्ष अनुभूति—जैसे महाभारत (इतिहास) में पढ़कर प्राप्त की गई कवि, अनिल और रम्भादेवी की अनुभूतियाँ।

(*iii*) प्रत्यक्ष या कल्पनात्मक अनुभूति के संस्कारों के भावन द्वारा उद्‌बुद्ध अनुभूति—जैसे 'शाकुन्तलम्' के प्रणयन काल की कवि की अनुभूति तथा अभिनेताओं और प्रेक्षक रूप से उपस्थित अनिल व रम्भादेवी की अनुभूति।

कल्पनामूलक अनुभूतियाँ भी प्रत्यक्ष ही कही जा सकती हैं। अतः प्रथम तीन अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होने से भावमात्र हैं। वे प्रसङ्ग के अनुसार कटु भी हो सकती हैं। शेष तीन अनुभूतियों में कवि की समृद्ध भाव-शक्ति का पुट है। उसका अपना हृदय तो भावुक होता ही है परन्तु उसने भाषा के प्रतीकों को भी वह शक्ति प्रदान कर दी है कि वे दूसरों में भी वैसे ही भाव जागृत करा सकें। अतः इस भाव-प्रवणता के कारण वे तीनों अनुभूतियाँ भावित हैं और प्रत्येक अवस्था में आनन्दमय होने का ही सामर्थ्य रखती हैं। इस कारण रस संज्ञा भी इन्हीं की हो सकती है। अस्तु!

इस विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि साक्षात् प्रत्यक्ष अथवा कल्पना में प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभूति के संस्कार समृद्ध भाव-शक्ति के द्वारा भावित होते हैं, जिससे वे हर अवस्था में आनन्दमय ही होते हैं और 'रस' कहाते हैं।

इस कसौटी से मालूम पड़ा कि—

(*i*) रचना के समय कवि रस ग्रहण करता है।

(*ii*) अभिनय के समय नट-नटी भी रस ग्रहण करते हैं।

(*iii*) और सहृदय के वासनारूप से स्थित स्थायीभाव जागृत होकर रसदशा को पहुँचते ही हैं।

अत: रसस्थिति न केवल प्रेक्षक में अपितु कवि और नट-नटी में भी माननीय है। परन्तु रस—

(*i*) वस्तु में नहीं रहता।

(*ii*) नायक-नायिका की सत्ता रस दृष्टि से निर्विशेष होती है। अत: उनमें रस की स्थिति नहीं होती।

आचार्यपाद	दर्शन	रस का बीज	रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया	रस की स्थिति	न्याय	सूत्रार्थ	
						संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमांसक उत्पत्ति-वाद	अनुकार्य का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर (नटादि अनुकर्ताओं में) प्रेक्षक अनुकार्यों का आरोप कर लेता है। इससे उनके रस की प्रतीति होती है। रस-प्रतीति से प्रेक्षक के हृदय में भी आनन्द (रस) उत्पन्न हो जाता है।	मूल रूप से अनु-कार्यों में। गौण रूप से सामा-जिक में।	कारण-कार्य भाव	विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से (आरोपित होने से—नाटकगत विभावादि पर अनुकार्य और उसके कारण-कार्यों का आरोप होने से) रसप्रतीति द्वारा रस उत्पन्न होता है।	
श्री शंकुक	नैयायिक अनुमिति-वाद	अनुकार्य का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर प्रेक्षक अनुकार्यों का तादात्म्य कर लेता है। फिर उनके भाव (आनन्द या रस) का भी अनुमान कर लेता है। अनु-मित भाव ही रस है।	मूल रूप से अनु-कार्यों में। गौण रूप से सामा-जिकों में।	गम्य-गमक भाव	विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से (अनुकार्य के कारण-कार्य और सहयोगी कारण रूप से समझ लिए जाने पर) रस का अनुमान होता है।	

भट्टनायक	सांख्य-वादी भुक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात रति एवं विभावादि का साधारणीकरण भावकत्व द्वारा होता है। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि के साथ स्थायीभाव का उपभोग भुक्ति द्वारा होता है। यह भुक्ति ही रस है।	प्रेक्षक में ही	भोज्य-भोजक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के संस्कारों की भुक्ति होती है।
अभिनव-गुप्त	वेदान्ती अभि-व्यक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ (भाव) का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात भाव और विभावादि का भावन (साधारणीकरण) व्यञ्जना वृत्ति द्वारा होता है। ऐसा होने पर प्रेक्षकगत संस्कार रूप स्थायीभाव अभिव्यक्त हो आस्वादित होते हैं।	प्रेक्षक में ही	व्यंग्य-व्यञ्जक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के संस्कारों की *अभिव्यक्ति* होती है।

[२] रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः ,
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः,
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

—साहित्यदर्पण ।३। २, ३ ॥

"सत्त्वगुण के प्राधान्य से यह अखण्ड, स्वतः प्रकाशित, आनन्द चिन्मय (आनन्दस्वरूप ज्ञानमय), इतर ज्ञान से रहित, ब्रह्मानन्दसहदर और लोकोत्तर चमत्कार वाला 'रस' सहृदयों के द्वारा अपनी देह की तरह अभिन्न रूप में (अर्थात् ज्ञातृज्ञान के भेद के विना ही) आस्वादित होता है।"

आज का वैज्ञानिक निरीक्षण परीक्षण का विश्वासी होकर तत्त्वज्ञान की खोज में संलग्न रहता है; जबकि पुरातन भारतीय मनीषी एकाग्रचित्त होकर अन्तर्दृष्टि के द्वारा विषय का समग्र रूप से दर्शन करते थे। विविध विज्ञानों की दुहाई देकर रस-स्वरूप-सम्बन्धी जो विस्तृत विवेचन किये जा रहे हैं उनमें तथ्य का उतना विशद चित्र नहीं रहता जितना कि विश्वनाथ ने ऊपर के दो संक्षिप्त श्लोकों में रख दिया है। इन श्लोकों की शब्दावली में रस के जो विशेषण दिये गये हैं वे अत्यन्त अर्थपूर्ण हैं, प्रत्येक शब्द के पीछे विस्तृत चिन्ता-राशि का पृष्ठदेश है। सूत्र रूप में कहे गये उपर्युक्त रस-स्वरूप-परिचायक विशेषण हमारे समझने के लिए व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार की व्याख्या को आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक कसौटी पर रखकर जब परखा तो उसे प्रायः सर्वथा वैज्ञानिक और खरा पाया। हमें भी यहाँ यह देखना है कि रस के स्वरूप की प्राचीन व्याख्या कहाँ तक तर्क-संगत है। प्रथम उन अर्थगर्भित विशेषणों को देख लेना सुविधाजनक रहेगा :—

(*i*) सत्त्वोद्रेकात्—रस-निष्पत्ति में सत्त्वगुण को हेतु माना है। जब रजोगुण और तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्त्व का आविर्भाव हो जाता है तब रस-निष्पत्ति होती है। सत्त्वोद्रेक की इस अवस्था में आस्वाद ही रस है; अतः वह आस्वादित होने वाले रति आदि भाव से पृथक् है। अर्थात् रस भाव से भिन्न है। और इसी से हम कह सकते हैं कि शृंगार रस का अर्थ रति का अनुभव नहीं। डा० भगवानदास के शब्दों में—"भाव, क्षोभ, संरभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अँग्रेज़ी में इमोशन का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, आस्वादन रस है।"

(*ii*) अखण्ड—रसानुभूति की चेतना विभाव, अनुभाव आदि की खण्ड चेतना नहीं है अपितु उन सबकी सम्मिलित एक चेतना है।

(*iii*) स्वप्रकाश—रस के ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। रस स्वयमेव प्रकाशित होता है। जैसे ज्ञानान्तर अपने विषय घट को प्रकाशित करता है वैसे ही रस स्वयं को प्रकाशित करता है।

(*iv*) आनन्दचिन्मय—रसानुभूति आनन्दमय है और चिन्मय, अर्थात् बुद्धि और इच्छापूर्वक होने वाली है। कतिपय अनैच्छिक शारीरिक क्रियाओं की तरह नहीं।

(*v*) वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य—रसानुभूति के समय उससे इतर अनुभूति की सत्ता नहीं रहती। इतर ज्ञेय के स्पर्श से रहित होती है।

(*vi*) ब्रह्मास्वादसहोदर—ब्रह्मास्वाद का प्रयोग इस तरह किया गया है मानो वह सर्व-जन-विदित हो। उस समय के आध्यात्मिक वातावरण में इस निर्देश से रसानुभूति के आनन्द का कुछ आभास अवश्य ही हो जाता होगा। इसका आशय है कि रसानुभूति का आनन्द सवितर्क ब्रह्मानन्द का सजातीय है, अर्थात्

(*iii*) रस ज्ञाप्य नहीं है। होने पर अवश्य अनुभूत होता है क्योंकि वह स्वतः प्रकाशी है। उस पर आवरण नहीं हो सकता। जैसे ज्ञाप्य घट प्रकाशक दीपादि के रहने पर भी ढके हुए होने से अदर्शित ही रहता है, ऐसे रस नहीं।

(*iv*) रस कार्य नहीं। यदि कार्य होता तो विभावादियों के न रहने पर भी उसकी प्रतीति सम्भव होती। जैसे घट अपने 'निमित्त-कारण' दण्डचक्रादि के बाद भी रहता है।

(*v*) रस नित्य भी नहीं। यदि वह नित्य होता तो "रस की अभिव्यक्ति हुई" ऐसा नहीं कहा जाता। साक्षात्कार का विषय होने के कारण भविष्यत्कालिक भी नहीं। तथा कार्य और ज्ञाप्य न होने के कारण उसे 'वर्तमान' भी नहीं कहा जा सकता।

इतनी बातें रस की सर्वथा अलौकिकता एवं अनिर्वचीयता की सिद्धि के लिए काफी हैं।

आधुनिक दृष्टि

अब हमें रस का स्वरूप क्या है, इस समस्या का उत्तर आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। क्या आधुनिक विद्वान् भी उन्हीं परिणामों पर पहुँचते हैं जिन पर कि प्राचीन रसवादी स्थिर हुए थे? हमारे सामने प्रश्न का रूप यह है कि काव्य या नाटक से प्राप्त होने वाला आनन्द ऐन्द्रिय है या आध्यात्मिक है, अथवा इन दोनों से विलक्षण किसी अन्य ही प्रकार का है?

अनुभूति को हम स्थूल रूप से तीन प्रकार की मान सकते हैं—(१) ऐन्द्रिय (२) बौद्धिक और (३) आध्यात्मिक। जो लोग आत्मा की ही सत्ता को स्वीकार नहीं करते और अनात्मवादी होने की घोषणा करते हैं, उनकी दृष्टि से अनुभूति दो ही प्रकार की है। उक्त तीनों प्रकार की अनुभूतियों के क्रमशः उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं। लौकिक शारीरिक रति या चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय है। ग्रन्थसमाप्ति पर प्रणेता

को जो आनन्द होता है वह बौद्धिक और योगी का ब्रह्मसाक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक कहा जा सकता है। अनुभूतिविषयक आत्म और अनात्म वादियों का उक्त विभाजन निम्न प्रकार रख सकते हैं :—

अब हमें देखना है कि काव्यानुभूति इनमें से किस प्रकार की है ? स्वदेश-विदेश के विद्वान् अपनी-अपनी कल्पनाओं और तर्क-प्रणालियों के द्वारा सभी सम्भव मान्यताओं की प्रतिष्ठा कर चुके हैं। तदनुसार काव्यानुभूति सम्बन्धी निम्न तीन मान्यताएँ सामने आती हैं :—

[१] काव्यानुभूति का आनन्द ऐन्द्रिय है। इसके पुरस्कर्ता प्लेटो आदि हैं। उनकी दृष्टि में वह आत्मा (बुद्धि) की सौन्दर्यानुभूति से भिन्न है, अतः निम्न कोटि की है।

[२] काव्यानुभूति का आनन्द आध्यात्मिक है। काव्यसौन्दर्य-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति होने से आनन्दमय है, और इसीलिये यह आनन्द आध्यात्मिक है। हीगल और कवीन्द्र रवीन्द्र की यही मान्यता है।

[३] काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। इस स्थापना के अन्तर्गत आने वाली मान्यताओं के निम्न तीन प्रकार हैं:—

(i) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। वह कल्पना का आनन्द है। अर्थात् मूल वस्तु के रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप में जो समता है उसके भावन से प्राप्त होने वाला आनन्द है, जो न ऐन्द्रिय है और न आध्यात्मिक। इस मत के प्रस्तोता एडीसन हैं।

(ii) काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न बौद्धिक अपितु इन दोनों की मध्यवर्ती 'सहजानुभूति' है। सहजानुभूति क्या है ? इसकी अपनी विशिष्ट व्याख्या है। इस मत के प्रतिपादक बैनेडेटो क्रोचे हैं। उनके अनुसार मानव-प्राण-चेतना में सहाजानुभूति की एक पृथक् शक्ति होती है। काव्यानुभूति इसी का गुण है। उस शक्ति का निर्माण बौद्धिक धारणाओं और ऐन्द्रिय संवेदनों द्वारा न होकर बिम्बों द्वारा होता है।

(iii) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। यह एक निरपेक्ष अनुभूति है। इसे हम विशिष्ट प्रकार का अलौकिक आनन्द कह सकते हैं, जिसकी तुलना में किसी भी लौकिक आनन्द को नहीं रखा जा सकता। यह मत प्राचीन है, परन्तु इस युग में ब्रैडले आदि ने इसका मण्डन विशेष रूप से किया है।

यहाँ पर उपयुक्त मान्यताओं की क्रमशः परीक्षा करना आवश्यक है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न है; क्योंकि एक साधारण व्यक्ति भी यह जानता है कि नाटक देखने से मुझे आनन्द ही मिलेगा, चाहे वह नाटक दुःखान्त ही क्यों न हो। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि काव्यानुभूति आनन्दस्वरूप ही होने के कारण लौकिक एवं ऐन्द्रिय सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों से भिन्न है।

अनात्मवादियों के लिए तो काव्यानुभूति को आध्यात्मिक मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त आत्मवादियों को भी काव्या-

नन्द में आध्यात्मिक आनन्द की वह शान्त गम्भीर ध्वनि नहीं सुनाई दे सकती, जिसे योगी लोग प्राप्त करते हैं। योग का उक्त आनन्द स्थायी होता है और काव्यानन्द क्षणिक है। अतः काव्यानन्द आध्यात्मिक भी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह एडीसन के 'कल्पना के आनन्द' और क्रोचे की 'सहजानुभूति' की विचित्र शक्ति को मनोविज्ञान में स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थान नहीं दिया जा सकता। कल्पना तो मन और बुद्धि की क्रिया है। अतः कल्पना का आनन्द निःसन्देह ऐन्द्रिय आनन्द होगा, जो काव्यानन्द नहीं कहा जा सकता। क्रोचे की सहजानुभूति की शक्ति को भी सभी वैज्ञानिकों ने एकस्वर से अमान्य ठहरा दिया है। अतः उपरोक्त मतों में से कोई भी मत आज के मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सन्तोष प्रदान नहीं करता।

केवल अन्तिम मत प्राचीन रस-सिद्धात में वर्णित रस के स्वरूप से मेल खाता है। उसके सम्बन्ध में भी कुछ विद्वानों का निम्न प्रकार आक्षेप है। उनका कहना है कि उक्त मत की मान्यता की स्वीकृति के लिए विपुल श्रद्धा की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक के पास नहीं होती। श्रद्धावश काव्यानन्द को अलौकिक, लोकोत्तर और अनिर्वचनीय कहते रहने से तथ्य का उद्घाटन नहीं होता। यह तो एक प्रकार से समस्या को छोड़कर पलायन है। ये विद्वान् काव्यानुशीलन और नाटक देखने की दशाओं का स्वतन्त्र रूप से पर्यवेक्षण करते हुए सर्वथा स्वतन्त्र मत की स्थापना करते है। उनकी दृष्टि से रतिकाल में व्यक्ति की चित्त की विद्रुति और रोमाञ्च आदि जिस प्रकार के संवेदन होते हैं, वैसे ही संवेदन नाटक देखते समय भी अवश्य होते हैं। ये सब ऐन्द्रिय ही हैं। अतः यह बात प्रत्यक्ष है कि काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अंश अवश्य रहता है। यह बात दूसरी है कि यह ऐन्द्रियता किस प्रकार की है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि ऐन्द्रिय आनन्द और काव्यानन्द में समता होने पर भी एक प्रकार की

भिन्नता अवश्य है। यह भिन्नता सिर्फ प्रत्यक्षता एवं तीव्रता की ही कही जा सकती है। प्रथम अवस्था में चुम्बन आदि द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द प्रत्यक्ष और तीव्रतर है। काव्यानन्द में उतनी प्रत्यक्षता और तीव्रता नहीं रहती। इसका कारण यह है कि काव्यानुभूति प्रत्यक्ष मूल घटना की अनुभूति नहीं है। मूल घटना का कवि को सर्वप्रथम इन्द्रिय सन्निकर्ष या कल्पनात्मक सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर कवि उसका भावन करता है। इस भावित घटना का भावन दर्शक करता है। भावन में दोनों को बुद्धि व मन का उपयोग करना होता है। अतः दर्शक या पाठक की अनुभूति भावित (Contemplated) घटना पर निर्भर रहती है जिससे उसे भावित अनुभूति कहते हैं। और उसकी यह भावित अनुभूति सूक्ष्म और प्रत्यक्ष ही होती है। इस प्रकार वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, पर वह भावित अनुभूति है।

भावित अनुभूति का तात्पर्य केवल इतना है कि उसमें प्रत्याक्षानुभूति जैसी स्थूलता एवं तीव्रता नहीं होती। अनुभूति का स्वरूप भी यह कहकर स्पष्ट किया जा सकता है कि वह संवेदनात्मक होती है, अर्थात् काव्यानुभूति के संवेदन मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और विश्लेषणात्मक-बौद्धिक संवेदनों से कुछ अधिक स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार उक्त विद्वानों के इस विवेचनका सारांश यह निकला कि काव्यानुभूति का आनन्द बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अन्तर्गत संवेदन रूप ही है। परन्तु संवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब रूप होते हैं।

यह विवेचन नया नहीं। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए प्राचीन आचार्य भी यहीं पहुँचे थे। उन्होंने देखा कि अन्य अनुभूतियों की तरह जब काव्यानुभुति भी ऐन्द्रिय है तो फिर वही समस्या सामने आती है कि कटु संवेदनों से कटु अनुभूति क्यों नहीं होती? उक्त आधुनिक वैज्ञानिक तो यह कहकर कि काव्यानुभूति भावित होने से व्यवस्थित हो

जाती है; फलतः उसमें कटु संवेदनों से भी मधुर अनुभूति उपलब्ध होती है; समस्या को एक प्रकार से टाल देते हैं। अथवा उनके इस उत्तर पर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अनजाने रूप से आधुनिक शब्दावली में 'अनिर्वचनीयता' का ही प्रतिपादन कर डाला। कारण यह है पाश्चात्य विज्ञान का जन्म 'चर्च' के विरोध में होने के कारण वह अलौकिक, अनिर्वचनीय आदि जैसी चीजों को ज्यादा महत्त्व नहीं देता; वह उसमें धार्मिकता रूप अवैज्ञानिकता की गन्ध पाता है। विज्ञान प्रत्येक वस्तु को अपनी व्याख्या के अन्तर्गत लाने की चेष्टा कर अपनी विजय-दुन्दुभि का सिक्का जमाना चाहता है। फिर चाहे वह व्याख्या हास्यास्पद ही क्यों न हो जाये। रसानुभूति जैसी प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह पूछे जाने पर कि यहाँ कारण के गुण कार्य में देखे जाने के व्यापक नियम का व्यतिक्रमण क्यों हुआ—यह उत्तर देना कि व्यवस्थित होने से ऐसा हो गया, स्पष्ट तथा छिपे रूप से अनिर्वचनीयता का ही प्रतिपादन है।"

प्राचीन आचार्यों ने रस की इस अनिर्वचनीयता में अध्यात्म की सी गन्ध पाई। अतः वे इसके अध्यात्म पक्ष की ओर झुक पड़े और कह उठे कि काव्यानन्द ब्रह्मानन्द तो नहीं, पर ब्रह्मानन्द का सहोदर है। अतः रस एक ओर ऐन्द्रियता की सीमा को स्पर्श करता है तो दूसरी ओर अध्यात्म से जा मिलता है। अतः आनन्दमय ही होने से वह स्पष्टतया अलौकिक एवं अनिर्वचनीय है। उनकी दृष्टि से रस के स्वरूप की कुछ ऐसी विलक्षणता है जिसके कारण उसे किसी लौकिक शब्दावली की भाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उन्होंने काव्यानन्द को अपनी तरह का एक ही पाया, अतः उसे लोकोत्तर, चमत्कार-प्राण आदि कहा। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीनों ने रस के स्वरूप के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में जो लोकोत्तर और अनिर्वचनीय आदि विशेषण कहे हैं वे ही उसका स्वरूप स्पष्ट कर जाते हैं। यह कहना कि "ऐसा

कहकर समस्या को सुलझाना नहीं, पलायन है" विशेषणों की गहराई तक न पहुँचना है। यदि विशेषणों की गहराई पर ध्यान दिया जाय तो समस्या सुलझी हुई दीखेगी।

इन दोनों दृष्टिकोणों को तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रस का स्वरूप दोनों पक्षों में एक ही स्थिर किया गया है, अर्थात् इन्द्रियानन्द से कुछ अधिक और आध्यात्मिक आनन्द से कम। अन्तर केवल इतना है कि उस स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्दावली ग्रहण की गई है वह भिन्न-भिन्न है।

प्राचीनों ने रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो विशिष्ट शब्दावली ग्रहण की है उसकी उपयुक्तता और वैज्ञानिकता निम्न दो कारणों से और भी पुष्टि होती है:—

(*i*) एक तो रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है। इस तथ्य की सिद्धि के लिए किसी लम्बे-चौड़े तर्क की आवश्यकता नहीं। सभी का अनुभव है कि सत्काव्य के अनुशीलन या नाटक को देखने से आनन्द ही प्राप्त होता है। उस समय सांसारिक द्विविधाओं में संलिप्त व्यक्ति भी सुखसागर में निमग्न हो नोन-तेल की चिन्ता-व्याधियों से मुक्त हो जाता है।

(*ii*) और दूसरे यह कि रस भाव से पृथक् है, इसी कारण करुण और बीभत्स रस क्रमशः शोक और जुगुप्सा से पैदा होने पर भी ग्राह्य ही बने रहते हैं। इसी प्रकार श्रृंगार रस शारीरिक रति नहीं है। परन्तु इतना निश्चित है कि रस अपने भावों से सम्बद्ध अवश्य है; रतिभाव से श्रृंगार रस ही निष्पन्न हो सकता है।

संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि आधुनिक विद्वान् अपनी वैज्ञानिक शब्दावली में रस के जिस स्वरूप को प्रकट करते हैं, प्राचीन संस्कृत-साहित्य में उसी को एक अर्थगर्भित आध्यात्मिक शब्दावली में रखा गया है।

अलंकार-सम्प्रदाय

काव्य की प्रेरक प्रवृत्तियाँ और कवि

मानव-मात्र में प्रेम, दया आदि मानसिक वृत्तियां, प्रकृति के नाना रूपों से उद्भूत मनोविकारों, परिस्थितिजन्य अनुभवों और विचारों, आकांक्षाओं एवं कल्पनाओं को प्रकट करने और सुनने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसके साथ ही सौन्दर्य-प्रियता की भावना भी सभ्य समाज में सर्वत्र पाई जाती है। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण हम अपने मनोभावों को सुन्दरता के साथ प्रकट करने के लिए यत्नशील होते हैं। परन्तु सभी व्यक्ति समान रूप से अपने भावों का आकलन करने एवं उसमें छिपे रहस्य का भावन करने और उन्हें सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करने में योग्य नहीं होते। कुछ व्यक्तियों में ऐसी स्वाभाविक प्रतिभा होती है, जिसके कारण वे उक्त कार्य का सम्पादन ऐसे आकर्षक एवं रुचिर ढंग से करते हैं जिसके कारण वह सर्वप्रिय होता है। ऐसे ही व्यक्ति निसर्ग-सिद्ध कवि कहाते हैं। इनके कर्तृत्व के फलस्वरूप संसार में काव्य-लोक की सृष्टि सम्भव हुई है।

कवित्व के आधार पर काव्य के दो पक्ष

उक्त कथन से यह बात प्रकट होती है कि कवि में भावुकता (भाव रूप रहस्यदर्शन का सामर्थ्य) और सौन्दर्य के साथ कह देने की विशेष क्षमता होती है। इसके आधार पर काव्य के दो पक्ष निश्चित किये जा सकते हैं :—[१] एक तो भावपक्ष या अनुभूति-पक्ष और दूसरा [२] कलापक्ष। भावपक्ष में काव्य का अन्तर्निहित रहस्य या अनुभूति विशिष्ट आती है और कलापक्ष में उक्त अनुभूति को अभिव्यञ्जित करने का समग्र कौशल।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र की दृष्टि से काव्य के चार तत्त्व माने गये हैं—रागात्मकता, कल्पना, बौद्धिकता और कलात्मकता। कवि किसी रागात्मक भाव को कल्पना की सहायता से औचित्य एवं संगतिपूर्वक कलामयी कृति के रूप में प्रस्तुत करता है। इसकी इस कृति में भी वस्तुतः वे ही दो तत्त्व, भावपक्ष और कलापक्ष, ही झलकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र-सम्मत कथित चार काव्यतत्त्व भी वस्तुतः इन्हीं दो पक्षों में समाहृत किये जा सकते हैं।

काव्य के उभय पक्षों में अन्य तत्त्वों का समाहार

हमारे यहाँ अलंकार-शास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदायों में काफी स्पर्धा रही है; और प्रत्येक वर्ग के आचार्यों का यह प्रयत्न रहा कि वे यह प्रमाणित कर सकें कि काव्य का मूलभूत तत्त्व या आत्मा उनके प्रतिपादन के अनुसार ही है। इन पाँचों सम्प्रदायों के मूल में यह बात लक्षित होती है कि कोई आचार्य तो काव्यात्मा की खोज करते हुए कलापक्ष तक पहुँचे, कोई भावपक्ष तक और किन्हीं ने दोनों पक्षों का समन्वित रूप ढूँढ निकाला। इनमें रस और ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य भावपक्ष की तथा शेष कलापक्ष की मुख्यता में विश्वास रखते हैं। हमारा आशय निम्न कोष्ठक से प्रकट होगा।

भारतीय काव्यमतों का उक्त उभय पक्षों के साथ सम्बन्ध

१ भावपक्ष	१. भरत, विश्वनाथ	..........रस काव्यात्मा है।
	२. आनन्दवर्धन	..........ध्वनि ,, ,,
२ कलापक्ष	३. दण्डी, भामह, केशव	......अलंकार ,, ,,
	४. कुन्तक	..........वक्रोक्ति ,, ,,
	५. वामन	..........रीति ,, ,,

काव्य के मूल तत्त्वों की खोज करते समय—"काव्य में दो पक्ष—भावपक्ष और कलापक्ष—होते हैं" अथवा "काव्यात्मा ध्वनि या रसादि होते हैं" इन दोनों कथनों में कोई विशेष सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है, केवल कहने का ढंग अलग-अलग है। हाँ, काव्यात्मा का निर्देश करते समय ज़रा इस बात के स्पष्टीकरण का संयोग अधिक रहता है कि काव्य के उक्त दोनों पक्षों की मान्यता स्वीकार करते हुए भी इनमें भी प्राधान्य-गौणत्व का विवेक कर सकें। ऐसा होने से काव्य के सुसंगत लक्षण के लिए एकमात्र आधार निश्चित रूप से हाथ लग सकता है; क्योंकि हमारे यहाँ काव्य-लक्षण के लिए काव्यात्मा की खोज आवश्यक समझी गई है ताकि काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष को समान नहीं, अपितु उचित स्थान प्राप्त हो सके।

विवेचन के दो प्रकार

कहना न होगा कि काव्य का वही लक्षण समीचीन हो सकता है जिसमें काव्य के उक्त उभय पक्षों को उचित संतुलन में रखा जा सके।

मम्मटाचार्य-कृत काव्य की परिभाषा—**तपदोषौ शब्दार्थौ सगुणा-वनलंकृती पुनः क्वापि**—(दोष-रहित गुण वाली रचना चाहे वह सालंकार न भी हो)—भावपक्ष और कलापक्ष को औचित्य प्रदान करने की दृष्टि से बड़ी शिथिल है। गुणवती कह देने मात्र से भावपक्ष का कथन तो हुआ ही नहीं (क्योंकि गुण काव्यात्मा के धर्म हैं, काव्यात्मा नहीं), साथ ही कलात्मकता की भी कोई गारंटी नहीं की गई, अपितु अलंकारों के अभाव में भी काव्यत्व स्वीकार किया गया है। इसमें भावात्मक कलापक्ष का सर्वथा अभाव रहा। विश्वनाथ ने मम्मट के इस लक्षण की। अनेक प्रकार से तीव्र समालोचना कर **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** यह परिभाषा प्रस्तुत की; इसमें रसवत्ता का स्पष्टतया कथन कर काव्य के भावपक्ष या अनुभूतिपक्ष को पूर्णतया

भारतीय काव्य लक्षण

मान्यता प्रदान करते हुए भी कलापक्ष का नामोल्लेख तक नहीं किया । अतः एकांगी ही रही । पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा— **"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"**—इससे कहीं व्यापक है। क्योंकि रमणीय अर्थ के प्रतिपादन में शब्द को हर तरह से (कलात्मकरूपेण भी) उपयुक्त होना चाहिये, यह संकेत तो निकलता ही है । आनन्द-वर्धनाचार्य ने सीधा काव्यलक्षण न करके काव्यात्मा रूप ध्वनि (व्यंग्यभूत अर्थ) पर ही ज़ोर दिया । ध्वनि में भी रसध्वनि को सर्वथा विलक्षण [**तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्वं कथंचित्** (अतः अन्वयव्यतिरेक से रसादि, वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त —ध्वनित—ही होते हैं। किसी भी अवस्था में वाच्य नहीं होते] बताते हुए श्रेष्ठ काव्य में रसत्व (रागतत्त्व या अनुभूतिपक्ष) और ध्वनित्व (व्यंजनत्व अर्थात् कलापक्ष) दोनों को उचित रूप से आवश्यक ठहराया । इनकी कमी या अप्रधान्य के साथ-साथ काव्य का दर्जा भी कम किया गया । काव्य के उभय पक्षों का रसत्व और ध्वनित्व जैसे समर्थ एवं व्यापक शब्दों में जिस खूबी के साथ कथन किया वह ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता के लिए वरदान सिद्ध हुआ । अस्तु !

तो काव्य के स्वरूप के उद्घाटन में पण्डितराज जगन्नाथ का लक्षण और आनन्दवर्धन की काव्यात्मा की व्याख्या, हमारी कसौटी के अनुसार, सर्वाधिक समीचीन है । तदनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना गया है । रमणीय अर्थ के दो साधन हैं—[१] व्यञ्जना और [२] अलंकार।

रमणीय अर्थ के दो साधन

इस प्रकरण में हमें अलंकारों से सम्बन्धित अलंकार-सम्प्रदाय की ही चर्चा करनी अभीष्ट है । अलंकार वस्तुतः भावों को व्यक्त करने अथवा रूप देने के सुघड़ साँचे हैं ।

अलंकार का शाब्दिक अर्थ है—सौन्दर्य का साधन। **"अलंकरोतीति" अलंकारः** अथवा **"अलंक्रियतेऽनेन" इत्यलंकारः** ये दो व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति में अलंकार सौन्दर्य का विधायक और दूसरी में साधन ठहरता है। दोनों का आशय एक ही है। फिर भी ये दोनों व्युत्पत्तियाँ अलंकार-सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास-क्रम की ओर निर्देश करती हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के पूर्व कम-से-कम श्रव्य काव्य के क्षेत्र में तो अलंकार-सम्प्रदाय का ही एकच्छत्र राज्य था। अलंकारों को काव्य की शोभा का विधायक समझा जाता था। उस समय दण्डीकृत निम्न परिभाषा का ही बोल-बाला था—

अलंकार का शाब्दिक अर्थ

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

"अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं।" इस परिभाषा से अलंकारों के सम्बन्ध में निम्न दो बातों पर प्रकाश पड़ता है—

[१] काव्य में जो सौन्दर्य है उसका कारण एकमात्र अलंकार ही हैं। वे ही शोभा के विधायक हैं।

[२] और चूँकि काव्य में सौन्दर्य रहता ही है अतः उसके कारण-भूत अलंकार भी अवश्य उपस्थित रहेंगे। इसका मतलब हुआ कि अलंकार काव्य के नित्य धर्म हैं।

ध्वनिकार ने जब काव्यात्मा ध्वनि को स्थिर कर दिया तो अलंकारों से सम्बन्धित धारणाओं की जड़ें हिल गईं। उन्होंने अलंकारों और गुणों में भेद बताते हुए काव्य के शरीर-भूत शब्द अर्थ के अस्थिर धर्म के रूप में इन्हें स्वीकार किया। ध्वनिकार के अनुसार अलंकार के सम्बन्ध में निम्न मान्यताएँ स्वीकृत की गईं।

[१] काव्य के शरीर-भूत शब्द अर्थ के उपकारक होने से अलंकार काव्यात्मा के परम्परया उपकारक हैं।

[२] अलंकार काव्य के नित्य धर्म नहीं, वे अस्थिर धर्म हैं। उनके बिना भी काव्यत्व देखा जाता है।

[३] अलंकार काव्य की शोभा की सृष्टि नहीं करते, उसे बढ़ा ही सकते हैं।

इस प्रकार अलंकारों को काव्य-शोभा के विधायक की जगह साधन माना जाने लगा। इसी आधार पर परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों का लक्षण निम्न प्रकार किया—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

"शोभा को बढ़ाने वाले और रसादि के उपकारक जो शब्द अर्थ के अनित्य धर्म हैं वे अङ्गद (आभूषणविशेष) आदि की तरह अलंकार कहाते हैं।"

भामह ने अलंकारों को काव्य का प्राण बताते हुए अलंकारों की भी आत्मा वक्रोक्ति को माना है। इसके विपरीत दण्डी ने अलंकारों की प्रेरक शक्ति, अतिशयोक्ति को ठहराया है।

अलंकारों की मूल प्रेरणा क्या है?

विचार करने पर ज्ञात होता है कि अलंकारों की आत्मा या मूल प्रवृत्ति की खोज करते हुए दोनों आचार्य प्रायः एक ही तत्त्व पर पहुँचे थे। नाम का भेद होते हुए भी दोनों का आशय एक ही वस्तु से है। भामह की वक्रोक्ति अतिशय ही है। इसी बात का निर्देश 'काव्यप्रकाश' की टीका में किया गया है—

"एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।"

जिस तरह लोक में आत्मोत्कर्ष के प्रदर्शन के लिए स्त्रियाँ आभूषण धारण करती हैं या पुरुष अपने को वस्त्रादिकों से सजाते हैं उसी तरह

मन के उत्कर्ष या अतिशय की अभिव्यक्ति का साधन वाणी के अलंकार हैं। मन के उत्कर्ष का आशय है भावोद्दीप्ति की अवस्था। जब हमारे भाव उद्दीप्त हो जाते हैं तो शरीर के रोम-रोम में आवेग या अतिशय प्रस्फुटित होने लगता है। यही आवेग वाणी के माध्यम में अलंकारों का रूप धारण कर लेता है। सारांश यह है कि भावोद्दीपन के कारण हमारी वाणी स्वाभाविक रूप से अलंकृत (अतिशयित) हो जाती है; क्योंकि ऐसा करने से भीतर के मानसिक विस्फार या अतिशय का बाह्य रूप से प्रदर्शन हो जाता है, जिससे हमें तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, भामह और दण्डी का यह अभिमत कि अलंकारों का प्राण अतिशयोक्ति है, ठीक है। यही तथ्य 'काव्यप्रकाश' में भी स्वीकार किया गया है—

"सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेमावतिष्ठते। तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।"

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार और वर्गीकरण

अलंकारों के विकास को देखते हुए यह मालूम पड़ता है कि उनकी विषय-सीमा तथा संख्या सर्वथा अनिश्चित-सी है। भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है, जबकि मम्मट ने यह संख्या ७० तक पहुँचा दी। ऐसी अवस्था में अलंकारों में समन्वय के सूत्र की खोज सर्वथा स्वाभाविक थी। इस दिशा में सर्वप्रथम रुद्रट् ने अलंकारों का वर्गीकरण वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर किया। यद्यपि रुद्रट् का यह वर्ग-विभाजन सर्वथा वैज्ञानिक नहीं था तो भी उनका प्रयत्न एक सुष्ठु दिशा का निर्देशक बन सका। बाद में रुय्यक ने अलंकारों के सात वर्ग बनाये:—

[१] सादृश्यमूलक (उपमा, रूपक आदि)।
[२] विरोधमूलक (विरोध, विभावना आदि)।
[३] शृङ्खलाबन्धक (कारणमाला, एकावली आदि)।

[४] तर्कन्यायमूलक (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)।
[५] काव्यन्यायमूलक (यथासंख्य, पर्याय आदि)।
[६] लोकन्यायमूलक (प्रत्यनीक, प्रतीप आदि)।
[७] गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक (सूक्ष्म, व्याजोक्ति आदि)।

ये अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

विश्वनाथ और विद्याधर ने इनमें कुछ संशोधन करने का यत्न किया। और अब भी आधुनिक विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। सुब्रह्मण्यं शर्मा और श्री ब्रजरत्न जी ने क्रमशः आठ और पाँच वर्ग निश्चित किये हैं। परन्तु वर्गीकरण के ये सभी प्रयत्न सन्तोषजनक सिद्ध न हो सके। इस असफलता का कारण यह समझा जा सकता है कि अलंकारों के स्वरूप-निर्धारक उपादानों का क्षेत्र ही अपने आपमें विविध विषयक एवं असीमित है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि कुछ अलंकार काव्य-शैली से सम्बन्ध रखते हैं तो दूसरे तर्क और न्याय का आश्रय लेते हैं।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में विवेचन करते हुए, अलंकारों का प्रयोग किसलिए करते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि—"उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।" उनके मत में उक्ति को प्रभावशाली बनाने के छः प्रकार हैं—स्पष्टता के लिए साधर्म्य, विस्तार के लिए अतिशय, आश्चर्य के लिए वैषम्य, अन्विति के लिए औचित्य, जिज्ञासा के लिए वक्रता और कौतूहल के लिए चमत्कार-मूलक अलंकारों का प्रयोग। तदनुसार—"अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं।"

यह बात स्पष्ट है कि अलंकारों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती; क्योंकि उनके उपादानों का क्षेत्र ही असीमित है—(**अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एव अलंकाराः—ध्वन्यालोक**।) ऐसी अवस्था में वर्गीकरण के लिए सर्वथा युक्तियुक्त और परिपूर्ण आधारों को

खोज निकालना एक प्रकार से असम्भव ही है। और यदि वे आधार भी अलंकारों की संख्या की तरह अनिश्चित होते चले जायें तो उनका ढूंढ़ना ही निष्प्रयोजन है। इन कारणों से वर्गीकरण के सभी प्रयत्न असन्तोष-जनक हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इस दिशा में हमारी जिज्ञासा की सन्तुष्टि का एकमात्र यही आधार हो सकता है कि अलंकारमात्र के मूल में भावोद्दीप्ति या अतिशय ही रहता है। आद्याचार्य भामह और दण्डी ने भी इतने से ही सन्तोष किया था।

अलंकारों का प्रयोग किसलिए करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।

काव्य में अलंकारों का स्थान

प्रभावोत्पादन की आवश्यकता काव्य में ही नहीं अपितु व्यवहार में भी रहती है। सर्वसाधारण लोग भी अपने रात-दिन के काम-काज में अपनी वाणी को सबल बनाने के लिए अलंकारों का प्रयोग करते हैं। किसी लीडर की प्रशंसा में—"आप मनुष्य नहीं देवता हैं" ऐसा कहा ही जाता है। इसी प्रकार "साम्राज्यवाद की चक्की में देश पिस रहा था" आदि वाक्य पार्टी-प्रोपेगण्डा के सिलसिले में अक्सर कान में पड़ते रहते हैं।

परन्तु इसके आगे, काव्य में अलंकारों का प्रयोग क्यों किया जाता है, जब यह प्रश्न सामने आता है तो केवल "प्रभावोत्पादन के लिए" इतनाभर कहना पर्याप्त नहीं। प्रभावोत्पादकता की खोजबीन भी आवश्यक हो जाती है। अलंकारों के द्वारा काव्य में बहुत कुछ सिद्ध होता है। सौन्दर्य काव्य में खास वस्तु है। चित्रण को स्पष्टता देने की भी आवश्यकता पड़ ही जाती है, इत्यादि। अतः हमें कहना पड़ेगा कि अलंकारों के द्वारा काव्य में सौन्दर्य, स्पष्टता और प्रभावोत्पादन आदि सभी की अभिवृद्धि लक्ष्य रहता है। शुक्ल जी अलंकारों का लक्षण करते हुए उनके प्रयोग के क्षेत्र की विविधता की ओर निर्देश करते हैं—

[४] तर्कन्यायमूलक (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)।
[५] काव्यन्यायमूलक (यथासंख्य, पर्याय आदि)।
[६] लोकन्यायमूलक (प्रत्यनीक, प्रतीप आदि)।
[७] गूढार्थप्रतीतिमूलक (सूक्ष्म, व्याजोक्ति आदि)।
ये अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

विश्वनाथ और विद्याधर ने इनमें कुछ संशोधन करने का यत्न किया। और अब भी आधुनिक विद्वान् इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। सुब्रह्मण्यं शर्मा और श्री ब्रजरत्न जी ने क्रमशः आठ और पाँच वर्ग निश्चित किये हैं। परन्तु वर्गीकरण के ये सभी प्रयत्न सन्तोषजनक सिद्ध न हो सके। इस असफलता का कारण यह समझा जा सकता है कि अलंकारों के स्वरूप-निर्धारक उपादानों का क्षेत्र ही अपने आपमें विविध विषयक एवं असीमित है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि कुछ अलंकार काव्य-शैली से सम्बन्ध रखते हैं तो दूसरे तर्क और न्याय का आश्रय लेते हैं।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में विवेचन करते हुए, अलंकारों का प्रयोग किसलिए करते हैं, इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि—"उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए।" उनके मत में उक्ति को प्रभावशाली बनाने के छः प्रकार हैं—स्पष्टता के लिए साधर्म्य, विस्तार के लिए अतिशय, आश्चर्य के लिए वैषम्य, अन्विति के लिए औचित्य, जिज्ञासा के लिए वक्रता और कौतूहल के लिए चमत्कार-मूलक अलंकारों का प्रयोग। तदनुसार—"अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं।"

यह बात स्पष्ट है कि अलंकारों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती; क्योंकि उनके उपादानों का क्षेत्र ही असीमित है—(**अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एव अलंकाराः—ध्वन्यालोक।**) ऐसी अवस्था में वर्गीकरण के लिए सर्वथा युक्तियुक्त और परिपूर्ण आधारों को

खोज निकालना एक प्रकार से असम्भव ही है। और यदि वे आधार भी अलंकारों की संख्या की तरह अनिश्चित होते चले जायें तो उनका ढूंढ़ना ही निष्प्रयोजन है। इन कारणों से वर्गीकरण के सभी प्रयत्न असन्तोष-जनक हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इस दिशा में हमारी जिज्ञासा की सन्तुष्टि का एकमात्र यही आधार हो सकता है कि अलंकारमात्र के मूल में भावोद्दीप्ति या अतिशय ही रहता है। आद्याचार्य भामह और दण्डी ने भी इतने से ही सन्तोष किया था।

काव्य में अलंकारों का स्थान

अलंकारों का प्रयोग किसलिए करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए। प्रभावोत्पादन की आवश्यकता काव्य में ही नहीं अपितु व्यवहार में भी रहती है। सर्वसाधारण लोग भी अपने रात-दिन के काम-काज में अपनी वाणी को सबल बनाने के लिए अलंकारों का प्रयोग करते हैं। किसी लीडर की प्रशंसा में—"आप मनुष्य नहीं देवता हैं" ऐसा कहा ही जाता है। इसी प्रकार "साम्राज्यवाद की चक्की में देश पिस रहा था" आदि वाक्य पार्टी-प्रोपेगण्डा के सिलसिले में अक्सर कान में पड़ते रहते हैं।

परन्तु इसके आगे, काव्य में अलंकारों का प्रयोग क्यों किया जाता है, जब यह प्रश्न सामने आता है तो केवल "प्रभावोत्पादन के लिए" इतनाभर कहना पर्याप्त नहीं। प्रभावोत्पादकता की खोजबीन भी आवश्यक हो जाती है। अलंकारों के द्वारा काव्य में बहुत कुछ सिद्ध होता है। सौन्दर्य काव्य में खास वस्तु है। चित्रण को स्पष्टता देने की भी आवश्यकता पड़ ही जाती है, इत्यादि। अतः हमें कहना पड़ेगा कि अलंकारों के द्वारा काव्य में सौन्दर्य, स्पष्टता और प्रभावोत्पादन आदि सभी की अभिवृद्धि लक्ष्य रहता है। शुक्ल जी अलंकारों का लक्षण करते हुए उनके प्रयोग के क्षेत्र की विविधता की ओर निर्देश करते हैं—

"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है; कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहाते हैं।" अब एक उदाहरण लेते हैं:—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः॥

"सन्ध्या (या नायिका) लालिमा (पक्षान्तर में अनुराग या प्रीति) से युक्त है और दिवस (अथवा नायक) उसके सामने ही बढ़ा आ रहा है (सामने आ रहा है), पर ओहो! दैवगति कैसी है कि फिर भी उनका मिलन (समागम) नहीं होता।"

यहाँ समासोक्ति अलंकार के द्वारा अप्रस्तुत जो नायक-नायिका-गत व्यवहार प्रतीत होता है उसके कारण उक्ति में सौन्दर्य आ गया है। और समान विशेषणों की महिमा से नायक-नायिका की विरह-गति मूर्त हो उठी है, जिससे चित्र में स्पष्टता आ गई है।

इसी प्रकार सूर्योदय के दो प्रसिद्ध चित्र अपनी नवस्फूर्तिमयी उद्बोधक आभा बिखेरने के कारण प्रशंसनीय हैं:—

सखि! नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा! तरता-तरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता

गड़ जायँ न कण्टक भूतल के

कर डाल रह डरता-डरता ।

—मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ श्लिष्ट-परम्परित-रूपकालंकार ने प्रातःकालीन सूर्य में राजहंस की सम्पूर्ण शोभा सन्निवत कर दी है ।

बीती विभावरी, जाग री

अम्बर पनघट में डुबा रही,

तारा-घट ऊषा-नागरी । —जयशंकरप्रसाद

रूपक अलंकार के सामर्थ्य से ऊषा ने जो विदग्ध-सुन्दरी का रूप धारण कर लिया है उससे सम्पूर्ण वातावरण सजीव हो उठा है, और प्रातःकालीन कलरव स्पष्ट सुनाई देता है ।

अलंकार की प्रभावोत्पादकता इस बात में होती है कि वह कवि के भावों को श्रोता के मन तक कितने वेग से प्रेषणीय बना देता है । श्रोता के मन में भी कवि के भाव उतनी ही तीव्रता से उबाल खा जायँ इसके लिए वस्तु का 'बिम्ब-ग्रहण' कराना होगा । यह कार्य भी अलंकारों द्वारा बड़ी उत्तमता से सम्पन्न होता है, जैसेः—

नव प्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी,

गतिमती कुटिला फणिनी समा ।

दमकती दुरती घन अंक में,

विपुल केलि कला खानि दामिनी ॥—हरिऔध

'दमकती दामिनी' का बिम्ब 'गतिमती-कुटिला-सर्पिणी' के द्वारा श्रोता के मानस-पटल पर विद्युत्गति से ही चमक उठता है, क्योंकि दामिनी की तरह सर्पिणी भी कुटिल-गति-धर्मा और आतंक-परिपूर्ण है ।

उक्त विवेचन के साथ-साथ यह प्रश्न भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि क्या काव्य में अलंकार अनिवार्य हैं ?

कलापक्ष को ही प्राधान्य देने वाले अलंकार-साम्प्रदायिकों की तो मान्यता है कि काव्य में अलंकार आवश्यक हैं; उनके बिना काव्यत्व सम्भव नहीं। अर्थात् अलंकार काव्य के नित्य-धर्म ही हैं। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में साग्रह प्रश्न किया—

क्या काव्य में अलंकार अनिवार्य हैं ?

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ?

रस-भावादि का तत्त्व समझने वाले आचार्यों के लिए इसका उत्तर स्पष्ट था। उन्होंनें न केवल अलंकारों का ही, अपितु अलंकार्य (रस) का भी पता पा लिया था। भाव के अभाव में वे किसी प्रकार भी काव्यत्व नहीं स्वीकार कर सकते। क्या लोक-व्यवहार में पाई जाने वाली लच्छेदार और अलंकृत बातचीत काव्य कही जा सकती है ? क्या मुर्दे को अलंकार धारण करवाकर सजीवता प्रदान की जा सकती है ? यदि नहीं, तो रस-भाव रूप आत्मा के बिना काव्यत्व कैसे ! वह भी असम्भव है—"**तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् (अभिनवगुप्त)।**"

काव्यत्व का मूल कारण अलंकारत्व नहीं, इस तथ्य को दूसरी तरह भी कह सकते हैं। सच्चे कवि में प्रतिभा होती है – "**प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्**" (**अलंकारतिलक**)। इसके बल पर वह [१] पदार्थ में निहित गूढ़ सौन्दर्य को देखता है और [२] उस असामान्य सौन्दर्य का उद्घाटन कर सर्वसाधारण तक पहुँचाता है, अर्थात् उसे प्रेषणीयता प्रदान करता है। डा० काणे नें भी लिखा है—"A poet is one who is seer, a prophet, who sees visions and possesses the additional gifts of conveying to others." (साहित्यदर्पण की भूमिका)। जब कवि गूढ़ सौन्दर्य का दर्शन कर चुकता है तो वही सौन्दर्य वाग्धारा-रूप में प्रवाहित

होने लगता है। यदि सौन्दर्य की अनुभूति न हो तो प्रवाहित ही क्या किया जा सकता है—यह सर्वथा स्पष्ट है। अतः काव्य के मूल में सर्व-प्रथम सत्य, सौन्दर्य, अनुभूति या भाव ही होता है। यही काव्य का प्राण है। इसी से काव्य में सजीवता आती है। सद्-भाव से प्राणवान् काव्य को अलंकार सजा सकते हैं, उसकी शोभा को बढ़ा सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं।

अलंकार-सम्प्रदाय का इतिहास

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रस का उल्लेख भरत ने वाचिक अभिनय के रूप में किया है। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यों ने उसका सम्बन्ध नाटक तक ही सीमित समझा। अतः हम देखते हैं कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में भामह और दण्डी आदि जो आचार्य हुए, यद्यपि वे रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी उन्होंने अलंकार को काव्यात्मा स्वीकार किया। यद्यपि भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में चार अलंकारों—उपमा, रूपक, दीपक और यमक का उल्लेख किया है तो भी अलंकारों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन भामह के काव्यालंकार में ही मिलता है। इस प्रकार भामह अलंकार-सम्प्रदाय के आद्याचार्य हुए। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है; भामह का अलंकार सम्बन्धी विवेचन इतना प्रौढ़ है कि अलंकारों के विवेचन की परम्परा इनसे पहिले की चली आती हुई प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र में 'अलंकार' तो हैं ही, भामह ने स्वयं भी मेधाविन् नामक पूर्वाचार्य का सादर उल्लेख किया है। इसी प्रकार भट्टिकाव्य, जो एक व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी ३८ अलंकारों का उल्लेख है। यह भी भामह से पहले का ग्रन्थ है। इन सब बातों से उक्त धारणा की पुष्टि सम्यक्तया होती है।

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अलंकारों के ऊपर 'काव्यादर्श' की रचना की। दण्डी की विशेषता यह है कि उन्होंने—**"काव्यशोभाकरान्**

धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"—कहकर अलंकारों को असन्दिग्ध रूप में काव्य का शोभाविधायक माना। भामह ने ३८ अलंकारों का तथा दण्डी ने ३५ का उल्लेख किया। परन्तु रसों को दोनों आचार्यों ने रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वित और समाहित नामक अलंकारों के अन्तर्गत माना। यद्यपि ये आचार्य रस-सिद्धान्त से परिचित थे तो भी काव्यमात्र में रस का उचित स्थान निर्धारित नहीं कर सके। उन्हें काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण अलंकार ही प्रतीत हुए। अतः उन्होंने रस को अलंकारों के अन्तर्गत लाने की चेष्टा की। उनके अनुसार रसवदलंकारों का कोष्ठक निम्न है :—

ध्वनिवादियों ने रसवदादि अलंकारों के सम्बन्ध में यह संशोधन किया कि जहाँ रस (रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस, भाव, तदाभास और भावशान्त्यादि चारों रस कहाते हैं) किसी अन्य के अंग रूप में प्रतीत होते हैं वहाँ पर ही रसादि (ध्वनि रूप न होकर) रसवदलंकार के अन्तर्गत हैं, सर्वत्र नहीं। अस्तु !

भामह ने अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एवं कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा। उनके मत में वक्रोक्ति (काव्यात्मक अभिव्यंजना), जो अलंकार के मूल में रहती है, से रचना और कल्पना दोनों के सौन्दर्य की समृद्धि होती है—

सैवा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना । काव्यालंकार

परन्तु भामह के विपरीत दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा कहा—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम् ।। काव्यादर्श ।।

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि दण्डी का अतिशय और भामह की वक्रोक्ति एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं ।

भामह के मत के प्रमुख व्याख्याता उद्भट हुए । इन्होंने 'भामह-विवरण" लिखा और दृष्टान्त, काव्यलिंग आदि अलंकारों की उद्भावना की। इसके बाद आचार्य रुद्रट् हुए। इन्होंने अनेक महत्त्व के कार्य किये—[१] एक तो अलंकारों के वर्गीकरण की परिपाटी डाली और दूसरे [२] रस और भाव आदि को अलंकारों के अन्दर ही समाहृत करने की प्रयुक्त भूल का निराकरण किया । इन्होंने अपने समकालीन विभिन्न मतों का अच्छा अध्ययन भी किया था । ये ही सर्वप्रथम आचार्य हुए जिन्होंने 'रस' का विवेचन काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में किया । इससे पूर्व के ग्रन्थकार रस को नाटक का विषय मानकर छोड़ देते थे ।

अलंकार-सम्प्रदाय के पीछे अभी तक यह दृष्टि रही कि काव्य को चमत्कृत करने वाली सभी विशेषताओं का संग्रह किया जाए । उन विशेषताओं में परस्पर भेद करने की चेष्टा नहीं की गई और ना ही सूक्ष्मता से यह देखा गया कि काव्य और प्रसाधन-सामग्री का सम्बन्ध क्या है । परन्तु रुद्रट् के पश्चात् ध्वनि के आत्मा-रूप में सामने आने पर यह स्पष्ट हो गया कि आन्तरिक गुणों और वाह्य आभूषणों में भेद होता है । इसलिए माधुर्यादि गुणों तथा उपमादि अलंकारों में भेद है । इसके साथ यह भी मालूम हो गया कि अलंकारों के अन्तर्गत सभी

प्रसाधनों को समाहृत करने की चेष्टा व्यर्थ है। शब्द और अर्थ की शोभा की वृद्धि करने वाले उपाय ही अलंकार हो सकते हैं; गुण अलंकार नहीं। इससे पूर्व अलंकारवादी गुण और अलंकारों को एक ही समझते थे—

"उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्।"

इस सबका परिणाम यह हुआ कि अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में यह निश्चित मत कि वे काव्य के अनिवार्य अंग नहीं हैं, स्पष्ट हो गया। और इसके बाद परवर्ती आचार्यों ने ऐसा ही सम्पुष्ट किया। आचार्य मम्मट व विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। वे रस के उपकारक होकर ही महत्त्व पा सकते हैं।

अन्त में रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' की रचना की, जिसमें अलंकारों के वर्गीकरण का परिष्कार करते हुए नए ढंग से छः आधार ढूँढे।

हिन्दी को अलंकारशास्त्र की मम्मट और विश्वनाथ वाली समन्वित परम्परा ही मिली, जिसमें इसका महत्व सर्वोपरि सुस्थिर हो चुका था। तो भी केशव-जैसे अलंकारवादी हिन्दी में मिल ही जाते हैं—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन, सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजहीं, कविता, वनिता, मित्त॥

— —

रीति-सम्प्रदाय

'रीति-सम्प्रदाय' के प्रमुख व्याख्याता वामन हुए हैं। उन्होंने 'काव्यालंकारसूत्र की रचना की, जिसके अनुसार 'रीति' को काव्यात्मा माना गया। रीति के स्वरूप-निर्धारक सूत्र निम्न प्रकार हैं:—

वामन द्वारा प्रतिपादित रीति का स्वरूप और लक्षण

(i) रीतिरात्मा काव्यस्य ॥२।६॥

काव्यात्मा रीति है, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य का मूल कारण 'रीति' है।

रीति क्या है ?

(ii) विशिष्टा पदरचना रीतिः ॥१।२।७॥

विशिष्ट पदरचना ही रीति (आधुनिक शब्दावली में शैली कह सकते हैं) है। पदरचना में वैशिष्ट्य कैसे आता है ?

(iii) विशेषो गुणात्मा ॥१।२ ८॥

पद-रचना का वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता में है। अतः गुणात्मक पदरचना का नाम 'रीति' है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदरचना का वैशिष्ट्य विभिन्न गुणों के संश्लेषण के आश्रित है। इसलिए गुणों की खोज भी आवश्यक है। गुणों के साथ दोषों का लेखा-जोखा लगा ही रहता है। गुणों के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य है:—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥

काव्य की शोभा के विधायक-धर्म 'गुण' हैं; और उस शोभा के वृद्धिकारक हेतु अलंकार होते हैं। अतः गुणों और अलंकारों में स्पष्ट

रूप से भेद है। गुण नित्य-धर्म हैं और अलंकार अनित्य, क्योंकि अकेले गुण पदरचना में वैशिष्ट्य ला सकते हैं, परन्तु केवल अलंकार नहीं।

इस प्रकार उन्होंने गुणों को नित्य मानकर शब्द और अर्थ के क्रमशः दस-दस गुण बताये; शब्द-गुणों और अर्थ-गुणों के नाम एक ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न— ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति। इन गुणों के विरोध में आने वालों को दोष माना। उन्हें वे गुणों का विपर्यय कहते हैं— "**गुणविपर्यात्मनो दोषाः**"। अर्थात् उन्होंने दोषों की कोई भावात्मक स्थिति स्वीकार नहीं की। गुणों के अभाव को वे दोष मानते हैं।

रीतियाँ भी तीन हैं— (१) वैदर्भी (२) गौड़ी (३) पाञ्चाली। वामन के अनुसार वैदर्भी में दसों गुणों का समावेश रहता है, जबकि गौड़ी और पाञ्चाली में क्रमशः ओज व कान्ति और माधुर्य व सौकुमार्य इन दो-दो गुणों का महत्त्व है। रीतियों के नामकरण के विषय में लिखते हुये वह इस शंका का निवारण भी कर देते हैं कि प्रदेशविशेष से काव्य का वैसा सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है:—

विदर्भादिषु दृष्टत्वात्तत्समाख्या।।१।२।१०।।

केवल विदर्भादि देशों में वैसी रीति का विशेषतया प्रचलन होने के कारण उस प्रकार का नाम रखा गया है। —"**विदर्भगौड़पाञ्चालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथास्वरूपमुपलब्धत्वाद्देशसमाख्या। न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।**"—**वृत्ति**॥

संक्षेपतः वामनाचार्य का मन्तव्य यह है कि काव्य के सौन्दर्य का मूल कारण रीति है; और रीति पदरचना का वह प्रकार है जिसमें दोषों का अभाव, अलंकारों का सामान्यतया प्रयोग और गुणों का अनिवार्यरूपेण समावेश हो। तो, वामनाचार्य का प्रधान कर्तृत्व निम्न प्रकार हुआ:—

(*i*) इन्होंने साहस के साथ रीति को काव्यात्मा उद्घोषित किया, और तीन रीतियाँ मानीं, जो परवर्ती आचार्यों द्वारा भी स्वीकृत की गईं।

(*ii*) इन्होंने गुणों और अलंकारों में भेद प्रतिपादित किया।

(*iii*) दोषों की भावात्मक सत्ता स्वीकार नहीं की। इसे परवर्ती आचार्यों ने अमान्य ठहराया।

(*iv*) वक्रोक्ति को अर्थालंकारों में शामिल किया।

(*v*) वामन द्वारा रीति के प्रतिपादन से स्पष्ट होता है कि उनकी पहुँच प्रधानतया काव्य के बाह्याङ्ग तक ही रही। परन्तु अन्तरङ्ग सर्वथा अछूता रहा हो, सो नहीं। क्योंकि उन्होंने अर्थ-गुण कान्ति में रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है—"**दीप्तरसत्वं कान्तिः**"॥३।२।१४॥

आचार्य वामन ने अपने "**काव्यालंकारसूत्र**" ग्रन्थ का प्रणयन ८वीं शताब्दी में किया। इससे यह न समझना चाहिए कि रीति-विषयक विचार का श्रीगणेश यहीं से प्रारम्भ होता है।

रीति-सम्प्रदाय का इतिहास

वस्तुतः रीति की परम्परा रस और अलंकार सम्प्रदायों की तरह ही पुरातन काल से चली आने वाली है। वामन ने तो रीति को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार कर प्रथम कोटि का महत्त्व प्रदान करना चाहा। 'रीङ्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर "रीति" शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ हुआ—गति, पद्धित, प्रणाली या मार्ग आदि। इस 'रीति' शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया है; दूसरे आचार्य मार्ग आदि शब्दों द्वारा रीति का प्रतिपादन करते रहे। जैसे दण्डी ने—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥**काव्यादर्श**॥

वामन-मतानुसार गुण रीति के मूल तत्त्व हैं। दण्डी की भी यही मान्यता थी। इन गुणों का विवेचन तो भरत के नाटयशास्त्र में मौजूद है, परन्तु रीति के विषय में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। भरत की दृष्टि में दोषाभाव रूप दस गुण होते हैं। इस प्रकार के दोषों के अभाव से दस गुण माने; उनकी सत्ता अभावात्मक है। गुण और दोषों के सम्बन्ध में भरत और वामन का दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है। भरत दोषों को भावात्मक (Positive) मानते हुए गुणों को अभावात्मक (Negative) मानते हैं। जबकि वामन का मत है कि दोष अभावात्मक हैं और गुण भावात्मक। परन्तु विचार करने पर गुण और दोष दोनों की ही भावात्मक सत्ता मान्य ठहरती है। गुणों का अभाव होने से दोष नहीं गिनाये जा सकते और न ही दोषों के न होने से गुणवत्ता दीखती है। लोक में भी गुण-दोषों, दोनों की भावात्मक सत्ता स्वीकृत है। इसी विचार से परवर्ती आचार्यों ने गुणों और दोषों दोनों को भावात्मक माना। दोषों की संख्या बढ़ते-बढ़ते सत्तर तक पहुँची। अस्तु!

भरत का गुण-विषयक श्लोक यह है:—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

—नाट्यशास्त्र॥

भरत नें शब्द-गुणों तथा अर्थ-गुणों की पृथक्ता के सम्बन्ध में भी कोई निर्देश नहीं दिया। इनके बाद भामह ने रीति का उल्लेख तो किया परन्तु उसे कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व प्रतिपादित करते हुए गुणों की संख्या—माधुर्य, ओज और प्रसाद—इन तीन के ही अन्तर्गत सीमित कर दी। बाद को ये ही तीन गुण भारतीय काव्यशास्त्र में प्रामाणिक रूप से प्रतिष्ठित हुये।

दण्डी ने रीति का विस्तृत विवेचन वैदर्भ और गौड़ इन दो मार्गों के रूप में किया, पर अलंकारों और गुणों में स्पष्ट भेद न कर सके, तथा

दस गुणों को प्रायः भरत के अनुकरण में ही स्वीकार कर लिया। इसलिए भरत की तरह दण्डी का गुण-विवेचन भी अस्पष्ट ही रहा। शब्द-गुणों और अर्थ-गुणों का भेद भी इन्होंने नहीं किया। इसके अतिरिक्त इनका यह भी ख्याल था कि वैदर्भ-मार्ग या रीति के दसों गुण मूल तत्त्व होते हैं; और उन गुणों का अभाव गौड़ीय रीति में पाया जाता है।

वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि॥

परन्तु दण्डी का यह विचार उचित नहीं, क्योंकि ओज गुण वैदर्भी रीति के गद्य में तो आवश्यक है परन्तु पद्य में नहीं जबकि गौड़ीय मार्ग में ओज पद्य में भी सर्वोपरि स्थान रखता है। दण्डी ने दोषों की संख्या भी भरत की तरह दस मानी है। भामह के ग्यारहवें दोष को उन्होंने अव्यक्त माना।

आचार्य वामन अपने मन्तव्य को साहस और स्पष्टता के साथ कहना जानते थे। अतएव ये स्वतन्त्र रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हो सके। भरत और दण्डी के अनुकरण का पल्ला न पकड़कर इन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को तर्क का सहारा दिया। दो की जगह तीन रीतियाँ मानीं। गुण और अलंकारों में भेद कर गुणों का स्पष्ट विवेचन किया। शब्द और अर्थ के दस गुण माने, जिनका नाम दोनों जगह एक ही है, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टि से वामन का कर्तृत्व क्रान्तिकारी था। उन्होंने अन्य आलंकारिकों की तरह 'रस' को अलंकारों के अन्तर्गत समाविष्ट न कर अर्थ-गुण कान्ति में रखा। यद्यपि परवर्ती आचार्यों को वामन के मत में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ मालूम हुईं तो भी काव्य-बाह्याङ्ग के विवेचन और स्वतन्त्र उद्भावनाएँ करने की उनकी प्रवृत्ति का लोहा स्वीकार करना ही पड़ता है।

वामन की तीन रीतियों के साथ रुद्रट ने चौथी 'लाटी' रीति

को भी लाकर खड़ा किया, परन्तु इसका विशेष महत्त्व न जँचा। इसके पश्चात् ध्वनिवादियों के तर्कों ने 'अलंकार्य' और 'अलंकार' का स्पष्ट भेद उपस्थित कर सोचने की धारा को ही बदल दिया। अलंकार्य (काव्यात्मा-रूप ध्वनि) की सर्वोपरि महत्ता स्थापित होने से रीति-सम्प्रदाय भी, अलंकार-सम्प्रदाय की तरह बाह्याङ्गदर्शी-मात्र होकर **"उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः (साहित्यदर्पण)"** के अनुसार रसोत्कर्ष के हेतुओं की कोटि में जा पड़ा। ध्वनिवादियों ने रीति को बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए "वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु" कहा। रीति की केवल इतनी ही उपयोगिता मानी गई कि वह रस-परिपाक में सहायक होती है। अभिनवगुप्त ने तो अलंकारों और गुणों के रहते रीति की पृथक् सत्ता को ही अनावश्यक ठहराया। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियों ने दस गुणों के स्थान पर भामह की तरह तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद—ही पर्याप्त समझे। हाँ गुणों का महत्त्व इसलिए अवश्य कायम रहा कि वे काव्यात्मा (रस) के नित्य अङ्ग माने गये।

आचार्य कुन्तक ने भी काव्य को कवि-प्रतिभा-जन्य बताते हुये रीति-विभाजन और रीतियों में कोटि-क्रम-निर्धारण, दोनों को असंगत माना। उनकी दृष्टि से रीति केवल कवि-कर्म का ढंग है, और वह ढंग रचना के गुणों के अनुसार दो प्रकार का – सुकुमार और विचित्र—हो सकता है। उक्त दोनों प्रकारों के चार गुण—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—मूलतत्त्वों के रूप में स्वीकार किये। इसके अतिरिक्त 'औचित्य' एवं 'सौभाग्य' ये दो गुण तो काव्यमात्र में होने चाहियें। कुन्तक के विवेचन में 'वदतो-व्याघात' का दोष प्रतीत होता है। जिस बात के लिए वे वामन को दोषी ठहराते हैं, वही दोष उनके मत में मालूम होता है।

अन्त में संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के समाहारवादी व्याख्याकार मम्मट और विश्वनाथ आते हैं। मम्मट ने वामन की तीन रीतियों को स्वीकार करते हुए उद्भट की वृत्तियों से मेल कर दिया। इसके अनुसार वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला ही हैं। इसे हम निम्न प्रकार से रखेंगे:—

वैदर्भी = उपनागरिका (माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित)
गौड़ी = परुषा (ओज-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित)
पाञ्चाली = कोमला (माधुर्य व ओज-व्यञ्जक वर्णों से भिन्न वर्णों के आश्रित)

परन्तु मम्मट ने वामन के दस गुणों की आलोचना कर उन्हें तीन गुणों के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया। विश्वनाथ ने रुद्रट् की तरह चार रीतियों का प्रतिपादन किया।

रीति-सम्प्रदाय के इतिहास से स्पष्ट है कि यह काव्य के बाह्याकार या शरीर को ही सर्वस्व मानकर चला, काव्यात्मा तक इसकी वैसी पहुँच न हो सकी। इसलिए यह सम्प्रदाय दीर्घजीवी न हो सका और न ही संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में वह प्रतिष्ठा पा सका। ऐसी अवस्था में हिन्दी-साहित्य में रीति-सम्प्रदाय की परम्परा प्राप्त न हो तो कोई भी आश्चर्य नहीं। हाँ, हिन्दी में 'रीति' शब्द का प्रयोग बहुत हुआ है, परन्तु वह अपने ही अन्य विशिष्ट अर्थ में। वह काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमों के विधान अथवा कविता करने की रीति सिखाने से ही सम्बद्धित है। इस प्रकार हिन्दी में 'रीति-काल', 'रीति-ग्रन्थ' और 'रीति-वादी-आचार्य' आदि जो प्रयोग होता है उसका अर्थ होता है—"काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों की शिक्षा देने वाले लक्षणग्रन्थों की प्रधानता वाला काल", इत्यादि।

रीति-सम्प्रदाय काव्य के कलापक्ष को प्राधान्य देने वालों में गिना जायेगा। इस दृष्टि से आलंकारिकों से इसकी समता है। परन्तु एक

रीति तथा अन्य सम्प्रदायों की तुलना

बात से रीतिवादियों का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। आलंकारिक काव्यात्मा अलंकारों में ढूँढते रहे जब कि यह स्पष्ट है कि काव्य बिना अलंकारों के भी रहसकता है। रीति के आचार्यो ने काव्यात्मा गुणों में पहिचानने की कोशिश की। और वे उसके काफी निकट पहुँच गये, परन्तु इतना फिर भी नहीं पहिचाना कि गुण वस्तुतः किससे सम्बन्धित है। अतः यह कहा जा सकता है कि रीति के आचार्यों ने काव्यात्मा ढूँढने में अलंकारवादियों की अपेक्षा अधिक प्रगति की। इसके अतिरिक्त रीतिवादियों द्वारा गुणों का विस्तृत विवेचन किये जाने पर भी वे वास्तविक 'गुणी' का पता न पा सके। गुणों का सम्बन्ध रीति से ही जोड़ दिया, जो वास्तव में काव्य की बाह्याकृति ही हो सकती थी। इस भूल को ध्वनिवादियों ने 'अलंकार्य' और 'अलंकार' के भेद के विवेक के कारण नहीं दुहराया। उन्होंने काव्यात्मा रूप रस से गुणों का सम्बन्ध पहचानकर यह बताया कि शृंगार और करुण रस में माधुर्य गुण की विशेषता रहती है; रौद्र, वीर और अद्भुत रसों में ओज मुख्य है और प्रसाद सभी रसों से सम्बन्धित है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

विषयोपक्रम

पश्चिम के देशों में काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति काव्य के उत्कर्षक एवं अपकर्षक नियमों का संग्रहमात्र करने की रही, उनमें परस्पर सम्बन्ध निर्धारण कर सुशृङ्खलता स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। फलतः वह भारतीय काव्यशास्त्र की तरह समन्वित नहीं हो सका। परन्तु इधर भारतीय आचार्यों की काव्य के सम्बन्ध में भी वही चिरपरिचित दृष्टि रही जो विविध प्रपञ्चात्मक सङ्गठनों में एकत्व या अद्वैत की खोज किया करती है। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि दो-चार शब्दों में काव्य का लक्षण बता देना नितान्त असम्भव है; उसके लिए तो काव्यात्मा के रूप में काव्य के मूलभूत तत्त्व को खोजकर काव्य के शरीर और अङ्गोपाङ्गों की अन्विति ठीक से बिठानी होगी। तभी काव्यपुरुष का स्वरूप विशद रूप में सामने आ सकता है। ईसा की आठवीं शताब्दी तक भरत के नाट्यशास्त्र, भामह के काव्यालंकार, उद्भट के भामहविवरण, वामन के काव्यालंकारसूत्र और रुद्रट के काव्यालंकार की रचना उक्त दृष्टि को लेकर ही होती रही; परन्तु रसवादियों के सिवाय अन्य आचार्य काव्यात्मा की खोज में सफल नहीं कहे जा सकते, क्योंकि अलंकार तथा रीतिवादी आचार्य तो स्पष्टतः काव्य के बाह्याङ्गों तक ही पहुँचे, और रसवाद में भी रमणीय फुटकर छन्दों को काव्यकोटि में लाने के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की पूरी सङ्गति न दिखा सकने के कारण, अड़चन पड़ती थी।

ऐसी अवस्था में नवीं शताब्दी में रजानकानन्दवर्धनाचार्य ने अपने युग-प्रवर्तक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के द्वारा ध्वनि को 'काव्यात्मा' के रूप में प्रतिष्ठित कर काव्यपुरुष को सर्वथा सजीव रूप में समुपस्थित कर दिया। इन्होंने अपनी रोचक एवं पाण्डित्यपूर्ण शैली में निम्न कार्य सम्पन्न कर दिखाये :—

ध्वनिकार का कर्तृत्व

(*i*) काव्यात्मा रूप ध्वनि का अनुसन्धान।

(*ii*) ध्वनि के सम्बन्ध में सम्भावित भ्रान्तियों का निराकरण।

(*iii*) पूर्वप्रचलित रस, गुण, रीति और अलंकार आदि मतों का ध्वनि-सिद्धान्त में समाहार।

(*iv*) ध्वनि का मौलिक एवं अप्रतर्क्य विशद विवेचन कर काव्य के एक सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या ध्वनि-सिद्धान्त के एकमात्र आदिप्रवर्तक "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ के रचयिता आनन्दवर्धनाचार्य ही थे ? इस सम्बन्ध में ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में ही—**काव्यस्यात्मा ध्वनि-रीति र्बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः** (काव्यात्मारूप ध्वनि विद्वानों के द्वारा पहले से ही प्रकाशित होती चली आई है) आदि कहकर स्वतः ही स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि-सिद्धान्त सर्वथा नवीन नहीं। वह पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा कथित है। आगे चलकर वृत्ति में—"**सूरभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेय-मुक्तिः, ...प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः**"—इस कथन द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि वे विद्वान् वैयाकरण ही हैं जिनके स्फोट-सिद्धान्त के के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का उद्भव हुआ है। इसके साथ-साथ ध्वनि की मूल साधिका 'व्यञ्जना वृत्ति' का उल्लेख भारतीय दर्शन-ग्रन्थों में पहले से ही होता चला आया था। इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि ध्वनि-सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग शास्त्रीय विवेचन प्रथमतः "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ द्वारा ही हुआ है।

'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं और वृत्ति के कर्त्ता एक ही थे या अलग-अलग यह ऐतिहासिक प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। डाक्टर बुहलर, डाक्टर डे, और डाक्टर काणे आदि ने कारिकाओं और वृत्ति को दो भिन्न व्यक्तियों की रचना माना है। इसके विपरीत डाक्टर संकरन ने दोनों को एक ही व्यक्ति की कृति सिद्ध करते हुए परम्परागत मान्यता का समर्थन किया है।

ध्वनिकार और वृत्तिकार

ध्वनि-सिद्धान्त के पुरस्कर्ता अपना गौरव इस उद्‌घोषणा में मानते हैं कि उनका सिद्धान्त स्व-कल्पित या आविष्कृत नहीं अपितु "**विद्वदुपज्ञेय-मुक्तिः**" (विद्वन्मतानुसारी कथन) है। विद्वानों से उनका तात्पर्य वैयाकरणों से है, जिनके स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तार किया। अब यहाँ पर यह देख लेना आवश्यक है कि वैयाकरणों का उक्त स्फोट-सिद्धान्त क्या है, ताकि ध्वनि-सिद्धान्त के उद्‌गम की कहानी स्पष्ट हो जाय।

ध्वनि-सिद्धान्त का उद्‌गम 'स्फोटवाद'

वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द का आश्रय आकाश है तथा उसका ग्रहण कर्णेन्द्रिय या रेडियो आदि यन्त्रविशेष के द्वारा होता है। और उसकी उत्पत्ति के तीन कारण हो सकते हैं—(१) संयोग (२) विभाग और (३) शब्द। घंटा या भेरी आदि के बजने पर जो शब्द होता है वह संयोग है, क्योंकि भेरी और दण्ड के संयोग से उत्पन्न हुआ है। बाँस की दो खपच्चों को फाड़ने से जो शब्द पैदा होता है वह दलद्वय के फटनें के कारण उत्पन्न होने से बिभागज है। और मुख द्वारा जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है वह भी संयोगज या विभागज ही है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी स्वरयंत्र के स्वरतंतुओं (Vocal Chords) के संयोग और विभाग से होती है। और इस प्रकार से पैदा हुये संयोगज और विभागज 'शब्द' कर्णेन्द्रिय तक एक विशेष चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की शृङ्खला को पैदाकरते

हुए पहुँचते हैं। जिस प्रकार तालाव में फेंका गया पत्थर चारों ओर की लहरों के वृत्तों की शृङ्खला को प्रवाहित कर देता है, उसी तरह आकाश में पदार्थों का संयोग या विभाग चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की शृङ्खला को जन्म देता है। इस शृङ्खला में आदि का प्रथम शब्द संयोगज या विभागज है और उसके बाद के सब शब्दज हैं। घण्टे पर मुगरी के प्रहार से जो प्रथम संयोगज शब्द पैदा होता है वह दूसरी शब्दतरङ्ग को पैदा करता है। इस दूसरी शब्दतरङ्ग से तीसरी, तीसरी से चौथी, बस यही शब्द-धारा का क्रम आकाशस्थ वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। और जहाँ कहीं शब्द ग्रहण करने का यंत्र कर्ण आदि होता है वह सुना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश में अहर्निश पैदा होने वाली अनन्त शब्द-धाराओं में आदि शब्द संयोगज या विभागज होते हैं और शेष सभी शब्दतरङ्ग पूर्व शब्द से पैदा होने के कारण शब्दज हैं। हमारे कानों में दूरस्थ घण्टानाद का जो शब्द पड़ता है वह व्याप्त शब्दतरङ्गा की एक मध्य की कड़ी होने से शब्दज है। शब्द-श्रवण-प्रक्रिया की इस प्रगति को पारिभाषिक शब्दावली में 'वीचि-तरङ्ग-न्याय' के द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

शब्द-श्रवण-प्रक्रिया को ध्यान से देखने से यह भी ज्ञात होता है कि चक्रमयी-शब्द-तरङ्गों की धारा हमारे कान तक जब पहुँचती है तो शब्द सुनाई देता है और जब वह आगे बढ़ जाती है तो सुनाई देना बन्द हो जाता है। इस अवस्था में नैयायिक कहते हैं कि शब्द का नाश हो गया और वह अनित्य है। इसके विपरीत वैयाकरणों की मान्यता है कि शब्द नित्य है, वह नष्ट नहीं होता, उसका तिरोभावमात्र होता है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो उभयसम्मत है कि श्रूयमाण शब्द क्षणिक है।

जब शब्द क्षणिक है तो कई वर्णों से मिलकर बने पद और पदों से बने वाक्यों का श्रवण कैसे सम्भव है? क्योंकि घट, पट इत्यादि पदों के उच्चारण के समय प्रत्येक वर्ण का क्रमिकरूपेण उदभव और विनाश

होता चला जायेगा, समुदाय-रूप में पद की स्थिति कभी सम्भव नहीं। घट के घ् के श्रवण के समय आकार की उत्पत्ति ही नहीं हुई है और जब तक अ वर्ण का उच्चारण किया जायेगा तब तक घ् उत्पन्न होकर विनष्ट या तिरोभूत भी हो चुकेगा। इस प्रकार पद और वाक्य का समुदाय रूप में जब श्रवण ही सम्भव नहीं तो अर्थबोध कैसे सम्भव है, वह तो दूर की बात है!

उक्त समस्या का समाधान शब्द-विज्ञान के अद्वितीय ग्रन्थ "महाभाष्य" में पतञ्जलि मुनि ने स्फोट-सिद्धान्त की कल्पना द्वारा किया। इसके अनुसार श्रूयमाण वर्ण (वैयाकरण ध्वनि या नाद कहते हैं) अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं, क्योंकि वे आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी हैं। अर्थप्रतीति तो "सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति" (विद्यमान और पहिले तिरोभूत अनेक वर्णों का ग्रहण कराने वाली जो पद-प्रतीति है वह) से होती है। और **"सदसदनेकवर्णावगाहिनी-पद-प्रतीति"** पहिले के क्रमशः श्रूयमाण और विलुप्त वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण का श्रवण करने पर होती है। इसका आशय यह हुआ कि क्षणिक वर्ण श्रोता की बुद्धि में अपने संस्कार छोड़कर तिरोभूत हो जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के बल पर पूरे पद का संकलन हो जाता है जिससे पदप्रतीति होती है। इसी पदप्रतीति से अर्थप्रतीति हो जाती है और यही संकलित-समुदाय-रूप पदप्रतीति "स्फोट" है, क्योंकि इसी से अर्थ स्फुटित होता है—**"स्फुटित अर्थः यस्मात् सस्फोटः।"**

श्रूयमाण शब्द (ध्वनि या नाद) बुद्धि में स्फोट (संकलित समुदाय-रूप पदप्रतीति) का जनक या अभिव्यंजक है। वैयाकरणों के मत में यही स्फोटात्मक शब्द नित्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैयाकरण **"ध्वनति इति ध्वनिः"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'स्फोट' को अभिव्यक्त करने वाले श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहते हैं। इसी के साम्य से आलंकारिकों ने भी उन शब्द और अर्थ आदि के लिए ध्वनि

शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया जो वाच्य और वाचक से भिन्न व्यंग्यार्थ का बोध कराते हैं। आगे चलकर व्यंजनावृत्ति, व्यङ्गयार्थ और व्यङ्गयप्रधान काव्य के लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग होने लगा। उक्त पाँचों अर्थों में प्रयुक्त होने के लिए ध्वनि शब्द की निम्न प्रकार व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं:—

(i) "**ध्वनतीति ध्वनिः**" इस व्युत्पत्ति से जो शब्द या अर्थ व्यङ्गयार्थ को ध्वनित करे वह ध्वनि है।

(ii) "**ध्वन्यते इति ध्वनिः**" जो ध्वनित हो, अर्थात् व्यङ्गयार्थ, वह ध्वनि है।

(iii) "**ध्वननं ध्वनिः**" इस व्युत्पत्ति से जो ध्वनन रूप व्यापार है वह व्यंजनावृत्ति भी ध्वनि हुई।

(iv) "**ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः**" इस व्युत्पत्ति से जिसमें पूर्वोक्त चार प्रकार की ध्वनि (व्यंजक शब्द या अर्थ, व्यङ्गयार्थ और व्यंजना-व्यापार) हो वह काव्य भी ध्वनि कहाया।

काव्य के भेद— "ध्वनि-वाक्य"

"**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति** (काव्यात्मा ध्वनि है). ध्वनिकार का यह आदिवाक्य सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त का बीजभूत है। इसका आशय यह है कि काव्य में मुख्यतया वाच्यार्थ का नहीं अपितु व्यङ्गयार्थ (ध्वनि) का सौन्दर्य होता है। जैसे आत्मा की स्थिति से शरीर प्राणवान् होता है वैसे ही ध्वनि की उपस्थिति से काव्य सजीव होता है। यह व्यङ्गय-प्रधान काव्य ही उत्तम कोटि का है अतः उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं। ध्वनिकाव्य का निरूपण अथवा ध्वनि का लक्षण ध्वनिकार ने निम्न प्रकार किया है:—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

"जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर "तमर्थ"—उस प्रतीयमान अर्थ को—अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि नाम से कहा है।" यहाँ पर तमर्थ का विशेष महत्त्व है। इसे पृथक् कारिका में बड़े रोचक ढंग से स्पष्ट किया गया है।

ध्वनि का स्वरूप व लक्षण

प्रीतयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

"प्रतीयमान कुछ और ही चीज़ है, जो महाकवियों की वाणी में (वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त रूप में) रमणियों के प्रसिद्ध मुख-नासिकादि से अलग उनके लावण्य के समान भासित होता है।" इस प्रतीयमान अर्थ की विशेषताएँ भी बतायी हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

"उस स्वादु (आस्वाद्य रूप) अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महा-कवियों की वाणी उनकी अलौकिक एवं प्रतिभासमान प्रतिभाविशेष को दर्शाती है।"

इस प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा जब व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारकारक हो तब ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) समझना चाहिये। ध्वनिकार ने उपसंहार करते हुए ध्वनि के प्राधान्य की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है :—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद् व्यंग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥

उद्यो० २। का० ३३॥

"ध्वनि के सभी भेदों में प्रधानभूत ध्वनि की जो स्फुट रूप से प्रतीति

होती है वहीं ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।" व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता होने पर काव्य मध्यम कोटि का हो जायेगा। अर्थात्

गुणीभूतव्यंग्य

वाच्यार्थ की अपेक्षा यदि व्यङ्ग्यार्थ गौण (कम रमणीय या समान रमणीय) हो तो मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है।

काव्य-भेद का तीसरा प्रकार चित्रकाव्य है, इसे अधम कहा गया है। इसमें व्यङ्ग्यार्थ का अभाव रहता है, और अर्थचारुत्व भी नहीं होता। ध्वनिकार की यह उदारता ही समझनी

अधमकाव्य

चाहिये कि उन्होंने इसे काव्य-कोटि में स्थान दिया; अन्यथा अभिनवगुप्त और विश्वनाथ ने तो रसाभाव के कारण चित्रकाव्य को काव्य ही नहीं माना। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की सापेक्षिक प्रधानता के आधार पर ध्वनिवादियों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—[१] उत्तम (ध्वनिकाव्य) [२] मध्यम (गुणीभूतव्यंग्य) और [३] अधम (चित्रकाव्य)।

और स्वयं ध्वनि (ध्वन्यते इति ध्वनिः) भी तीन प्रकार की है—[१] रस-ध्वनि [२] अलंकार-ध्वनि और [३] वस्तु-ध्वनि। काव्य में जब आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी

ध्वनि के तीन प्रकार

के संयोग से पुष्ट होकर स्थायीभाव-रस रूप में अभिव्यक्त होता है तब रस की निष्पत्ति होती है। जिन स्थलों पर विभावादि से रसाभिव्यक्ति बिना किसी व्यवधान के होती है वे रस-ध्वनि के उदाहरण माने जाते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के उदाहरणों मे काव्य के शब्दार्थ सीधे रसाभिव्यक्ति करते हैं। अतः वहाँ रस-ध्वनि ही रहती है। परन्तु जहाँ शब्दार्थ द्वारा किसी अलंकार या वस्तु की व्यञ्जना हो वहाँ क्रमशः अलंकार-ध्वनि कही जायेगी। संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में या तो अलंकार-ध्वनि होती है या वस्तु-ध्वनि। इन तीनों के क्रमशः उदाहरण देखने चाहिये।

रसध्वनि का उदाहरण:—

रसध्वनि

मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इन शब्दों से ऋषि के शोक की भावना सीधे करुण रस के रूप में प्रतीयमान है। इसी प्रकार—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल ।
'हरुए' कहु मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥ बिहारी ॥

मान की शिक्षा देने वाली सखी के प्रति नायिका की उक्ति है। 'हरुए' पद से बिहारीलाल में अनुराग सूचित होता है, जिससे सम्भोग शृङ्गार ध्वनित है।

अलंकार-ध्वनि का उदाहरण:—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना ।
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली ।
मैं नीर भरी दुख की बदली !

"मुझे नीर से भरी दुख की बदली समझ सकते हो, पर भाग्य उस बदली जैसा भी नहीं, क्योंकि मुझे उसकी तरह विस्तृत-नभ-प्राङ्गण रूप किसी की सुखद गोद का एक कोना भी प्राप्त न हो सका—विरहिणी जो ठहरी।"

अलंकार-ध्वनि

इस वाच्यार्थ से बदली और विरहिणी की समता ध्वनित होती है। बदली नीरभरी है तो विरहिणी अश्रुपूर्ण- और दोनों को उमड़ते के साथ ही (विरहिणी, उठते यौवन में ही) बरसना पड़ा (विरहिणी को रुदन करना पड़ा)। परन्तु उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने के कारण चमत्कार बढ़ गया है। अतः यहाँ "व्यतिरेकालंकार"-रूप ध्वनि कही जायेगी।

वस्तु-ध्वनि का उदाहरण :—

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि ! कहहु को अहहिं तुम्हारे ?
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन मँह मुसिकानी ॥

ग्राम-ललनाओं के सीधे से प्रश्न के उत्तर में सीता जी संकोचपूर्वक मन ही मन मुसिकानें लगीं । इस वाच्यार्थ से रामचन्द्र जी का पति होना रूप वस्तु व्यंग्य है ।

वस्तु-ध्वनि अलंकार, वस्तु और रस-ध्वनियों में रस-ध्वनि का ही महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि वस्तु और अलंकार कभी वाच्य भी होते हैं, परन्तु रस कभी वाच्य नहीं होता । और इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे उत्तमोत्तम ध्वनि-काव्य कहा है । रस-ध्वनि ही काव्य का सर्वोत्तम रूप है । यह उत्तम में भी उत्तम है और दूसरे शब्दों में रस ही काव्य कासर्वश्रेष्ठ तत्त्व है ।

ऊपर व्यङ्ग्यार्थ को आधार मानकर ध्वनि के भेद किये गये हैं । इसके अतिरिक्त व्यञ्जक (पद, वाक्यादि) की दृष्टि से भी ध्वनि के भेद किये जाते हैं । इस प्रकार ध्वनि के मुख्य भेद ५१ ही हैं, परन्तु अनेक आचार्यों ने अवान्तर और मिश्र भेदों के प्रदर्शन द्वारा यह संख्या हज़ारों तक पहुँचा दी है ।

ध्वनिकार नें ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध कर सामान्यतया दो मुख्य भेद बताये हैं:—[१] अविवक्षितवाच्य और [२] विवक्षितान्य-परवाच्य ।—**अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपर वाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन** ॥ यहाँ इनका विवरण देख लेना आवश्यक है—

[१] *अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला ध्वनि,*—लक्षणा के आश्रित

रहने वाली इस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती। वाच्यार्थ बाधित होने से अर्थप्रतीति नहीं कराता अपितु

अविवक्षितवाच्य ध्वनि

इस (ध्वनि) के व्यञ्जनाव्यापार में लक्षणा-वृत्ति तथा वक्तविवक्षा आदि सहकारी होते हैं जिनमें लक्षणावृत्ति का ही सर्वाधिक प्रभाव होने से यह लक्षणामूला भी कहाती है। इसमें दो स्थितियाँ सम्भव हैं। एक में तो वाच्चार्थ अर्थान्तर में संक्रमित हो सकता है और दूसरी में सर्वथा तिरस्कृत। इसलिए लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद होते हैं—[१] अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है) और [२] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य (जहाँ वाच्यार्थ सर्वथा उपेक्षित ही रहता है।)

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण निम्न हैः—

> **स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाका घनाः,**
> **वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।**
> **कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,**
> **वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥**

"स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले तथा बकपंक्ति से युक्त मेघ [भले ही उमड़ें], जल-विन्दुओं से युक्त वायु [भले ही वहे] और मेघमित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर हों], मैं तो कठोर-

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य

हृदय 'राम' हूँ, सब कुछ सह लूंगा। परन्तु वैदेही बिचारी की क्या दशा होगी? हे देवि धैर्य धरो।" यहाँ पर 'राम' शब्द का संज्ञिमात्र राम-रूप-अर्थ बाधित होकर व्यंग्य-धर्म-निष्ठ "अत्यन्त दुःखसहिष्णु राम" का बोध होता है। इस प्रकार राम शब्द का वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। इसी प्रकार—

सीताहरन तात ! जनि कहेउ पिता सन जाइ ।
जो मैं 'राम', तो कुल-सहित कहहि दसानन आइ ॥

—रामचरितमानस ॥

मरणासन्न जटायु की दशा को देखकर सीताहरणकारी रावण पर क्रोधिक होने वाले राम की उक्ति है। इसका वाच्यार्थ है—"हे प्रिय बन्धु जटायु ! (स्वर्ग में) जाकर (स्वर्गस्थ) पिता जी से सीता-हरण का समाचार मत कहना। यदि मैं 'राम' हूँ तो रावण स्वयं ही कुलसहित आकर कह देगा।" यहाँ भी मुख्यार्थ बाधित होकर "खरदूषणादि को मारने वाला वीर राम" यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। राम रूप मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग न होकर 'वीर-राम' इस विशिष्ट अर्थ में संक्रमण हो गया है। अजहत्स्वार्था लक्षणा व्यापार के प्रभाव से व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। वह है—राम की वीरता का आधिक्य।

अब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण भी देखिये:—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

"सूर्य में जिसकी शोभा संक्रान्त हो गई है (क्योंकि हेमन्त ऋतु में सूर्य भगवान् चन्द्रमा की तरह अनुष्ण और आह्लादमय हो जाते हैं) और तुषार से घिरे मण्डल वाला चन्द्रमा, निश्वास से अन्धे (मलिन) दर्पण के समान, प्रकाशित नहीं होता।" यहाँ पर 'अन्ध' शब्द का वाच्यार्थ 'नेत्रहीन' है जो दर्पण में अनुपपन्न होने से बाधित है। तब प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था लक्षणा से 'अन्ध' का लक्ष्यार्थ हुआ 'पदार्थों को प्रकाशित करने नें अशक्त' और व्यंग्यार्थ रूप प्रयोजन हुआ 'अप्रकाशितत्वातिशय'। इस प्रकार अन्ध शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

का उदाहरण है, क्योंकि इसने अपने वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर दिया है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण में भी—

कह अंगद—सलज्ज जग माँहीं। रावण तेहि समान कोऊ नाहीं॥

अंगद-रावण-संवाद में अंगद की रावण के प्रति उक्ति है। इसका वाच्यार्थ हुआ—"अंगद कहते हैं, हे रावण ! तुम्हारे समान 'लज्जाशील' जगभर में कोई नहीं है।"

अंगद द्वारा धृष्ट रावण को लज्जाशील बताना प्रकरणानुसार संगत नहीं; अतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। और लक्ष्यार्थ हुआ—"हे रावण ! तुम्हारे समान 'निर्लज्ज' जगभर में कोई नहीं।"

इस प्रकार वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया गया है, जिसमें जहत्स्वार्था लक्षणा हुई। इसके प्रभाव से प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ हुआ—"निर्लज्जता की पराकाष्ठा।"

व्यञ्जक की दृष्टि से यदि ध्वनि के भेदों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उक्त उदाहरण 'अन्ध' इस पदमात्र से सम्बन्धित है। अतः यह पदगत ध्वनि का ही उदाहरण है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि वाक्यगत भी हो सकती है। इसका उदाहरण निम्न है:—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

"सुवर्ण जिस पृथिवी रूप लता का पुष्प है उसका चयन तीन ही पुरुष करते हैं—शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानते हैं।" यहाँ भी समस्त 'सुवर्णपुष्पा पृथिवी का चयन' रूप मुख्यार्थ अनुपपन्न है। लक्षणा द्वारा "प्रभूत धन के अनायासोपार्जन से सुलभ समृद्धिसम्भारभाजनता" यह अर्थ व्यक्त होता है। और प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य है शूर, कृतविद्य और सेवकों की प्रशस्ति।

[२] विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला ध्वनि)—इसमें वाच्यार्थ विवक्षित रहने पर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है। यह स्पष्टतया अभिधाशक्ति के आश्रित है।

विवक्षितान्यपरवाच्य

इसके दो भेद हैं—[१] असंलक्ष्यक्रमध्वनि और [२] संलक्ष्यक्रमध्वनि। अभिधामूला ध्वनि में वाच्यार्थ की अपनी सत्ता अवश्य होती है परंतु अन्ततः वह व्यङ्ग्यार्थ का ही साधक होता है। वाच्यार्थप्रतीति और व्यंग्यार्थप्रतीति में पूर्वापर क्रम भी अवश्य रहता है, परन्तु जहाँ पर क्रम होने पर भी लक्षित न हो वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। जिस प्रकार शतपत्रों को सुई से भेदन करने पर पत्रों के भेदन के क्रम की प्रतीति नहीं होती उसी तरह व्यंग्यार्थ (रस) की प्रतीति में क्रम अलक्षित रहता है। इसे शत-पत्र-भेद-न्याय कहते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत समस्त रस-प्रपञ्च (अर्थात् रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलतारूप आस्वाद प्रधान ध्वनि) आ जाता है। इसके उद्रेक की उत्कटता के कारण क्रम की प्रतीति नहीं होती।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के जो दो भेद किये गये थे वे वाच्यार्थ की प्रतीति के स्वरूप के भेद के कारण थे, परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के

असंलक्ष्यक्रमध्वनि

दोनों भेद व्यञ्जनावृत्ति के स्वरूप के भेद के कारण हैं। प्रथम असंलक्ष्यक्रमध्वनि (रस-ध्वनि) के उदाहरण देखने चाहियें :—

शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरं, किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं, दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

"हे सुमुखि ! इस शुकशावक ने किस पर्वत पर, कितनी देर कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधर के समान लाल-लाल बिम्ब-फल को काट रहा है ?" इस वाच्यार्थ के साथ-साथ दूसरा यह अर्थ भी

प्रकाशित होता है कि 'उचित तारुण्यकाल में तुम्हारे अधरारुण्यलाभ से गर्वित बिम्बफल का तुम्हें ही लक्ष्य करके रसास्वादन करना पुण्यातिशायलभ्य फल है, और इसकी प्राप्ति के लिए जो आवश्यक तपश्चर्या है उसे करने के लिए अनुरागी वक्ता तैयार है।' यहाँ पर व्यञ्जना वृत्ति से फल की पुण्यातिशयलभ्यता और तत्सम्बन्धी अनुरागी का स्वाभिप्रायख्यापन ये दोनों बातें प्रकट होती हैं। कुल मिलाकर विप्रलम्भ-शृंगार व्यंग्य है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी स्पष्ट है कि शब्द और वाच्यार्थ का महत्त्व नहीं है, अतः वे गौण हैं। व्यञ्जना वृत्ति से प्रकट होनें वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होनें से यह ध्वनिकाव्य (उत्तम) है। परन्तु 'मुख्यार्थ का बाध' जैसी कोई चीज भी नहीं है, अतः यह लक्षणामूलक ध्वनि न होकर अभिधामूलक है। उसमें भी शृंगार रस के उद्रेक की उत्कटता के कारण वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में जो क्रम है वह भी लक्षित नहीं होता। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि उक्त काव्य, 'रस-ध्वनि' (विप्रलम्भ-शृंगार) की प्रधानता होने से, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का उदाहरण है।

इसी प्रकार निम्न हिन्दी उदाहरण में :—

> **देखन मिषु मृग विहग तरु, फिरै बहोरि बहोरि।**
> **निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥**
>
> —रामचरितमानस

वाच्यार्थ है—[जनकपुरी की वाटिका में गौरीपूजन के लिए आई हुई सीता जी और रामचन्द्र जी के पूर्वमिलन के समय का प्रसंग है] सीता जी पशु-पक्षी तथा वृक्षों को देखने के बहाने उस तरफ बार-बार आती हैं और श्रीराम की छवि को पुनः पुनः देखने से अतिशय अनुराग की वृद्धि होती है।

यहाँ भी सीता जी का रामचन्द्र जी के प्रति पूर्व-अनुराग का वर्णन होने से विप्रलम्भ-शृंगार व्यंग्य है। अत: रस-ध्वनि का उदाहरण है।

जैसा कि ऊपर बताया है, विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रम ध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ से वयंग्यार्थ (अलंकार और वस्तु रूप ध्वनि) की प्रतीति का क्रम उसी प्रकार स्पष्टतया लक्षित होता है जैसे घण्टे के शब्द के पश्चात् उसकी गूंज (अनुरणन या अनुस्वान)। इस ध्वनि के भी तीन भेद हैं—[१] शब्दशक्त्युद्भव [२] अर्थशक्त्युद्भव और [३] शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव (इस तृतीय भेद के लिए द्वितीय उद्योत की २३वीं कारिका की वृत्ति देखो)।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि और उसके तीन भेद

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एकमात्र मूलाधार बोधक-शब्द होता है। उस शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देनें से काम नहीं चलता। इसके विपरीत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में शब्दपरिवर्तन के बाद भी अर्थात् पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी व्यंग्यार्थ पूर्ववत् ध्वनित होता रहता है। इनका भेद उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

परन्तु उदाहरण प्रस्तुत करने से पूर्व एक शंका का समाधान आवश्यक है। वह यह कि शब्दशक्ति के आधार पर दो अर्थों की प्रतीति श्लेष अलंकार में भी होती है। तब फिर श्लेष और शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की विषय-व्यवस्था का क्या नियम होगा? इसके उत्तर में निम्न कारिका है :—

श्लेष अलंकार का स्थल

आक्षिप्त एवालङ्कार: शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स: ॥

"जहाँ पर शब्द से अनुक्त (सक्षादसंकेतित) होने पर भी शब्दशक्ति से ही आक्षिप्त—शब्दसामर्थ्य से व्यंग्य—अलंकार की प्रतीति

होती है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। सारांश यह है कि शब्द-शक्ति से वस्तुद्वय की प्रतीति जब वाच्य रूप में हो तो श्लेष अलंकार समझना चाहिये अन्यथा शब्दशक्ति से आक्षिप्त—ध्वनित—होकर जो अलंकारान्तर की प्रतीति है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल है।

निम्न उदाहरणों में वस्तुद्वय प्रकरणाभिप्रेत है. अतः वाच्य है। और ये उदाहरण श्लेष के ही हैं :—

> **श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-**
> **त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।**
> **बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्**
> **स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥**

यह श्लोक ध्वनिकार का अपना ही है। इसमें कहा गया है कि विष्णु ने जिन रुक्मिणीदेवी को अपने शरीर से उत्कृष्ट पाया वे तुम्हारी रक्षा करें। यहाँ पर विष्णु-शरीर रूप उपमान की अपेक्षा रुक्मिणी-शरीर रूप उपमेय में आधिक्य दिखाया है, अतः व्यतिरेक अलंकार है। यह अलंकार विष्णु के विशेषणों के द्वारा दो अर्थ करने पर सिद्ध होता है। अतः कहा जा सकता है कि व्यतिरेक की छाया को पुष्ट करने वाला श्लेष है जो "स्वतनोरपश्यदधिकाम्" इस पद के कारण वाच्य ही माना जा सकता है। श्लोक का अर्थ निम्न प्रकार है :—जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है (दूसरा अर्थ—सुदर्शनचक्रधारी) जिन्होंने केवल चरणार-विन्द के सौन्दर्य से (दूसरा अर्थ—पादविक्षेप से) तीनों लोकों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्र-रूप से केवल नेत्र को धारण करते हैं (अर्थात् जिनका समग्र मुख नहीं अपितु एक नेत्रमात्र ही चन्द्र रूप है) ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापी सौन्दर्य वाली, सर्वाङ्ग सौन्दर्य से त्रैलोक्य को विजित करने वाली और चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण मुख वाली जिन रुक्मिणी को उचित रूप से ही अपने शरीर में उत्कृष्ट देखा; वे तुम्हारी रक्षा करें।

एक हिन्दी उदाहरण भी देखो :—

'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून ।

पानी गये न ऊबरे, मोती, मानस, चून ॥

यहाँ पर 'पानी' इस शब्द के तीन अर्थ क्रमशः आभा, प्रतिष्ठा और जल अभिधा से प्रतीत होते हैं, क्योंकि मोती, मानस और चून ये तीन प्राकरणिक मौजूद हैं। यह भी श्लेष अलंकार का उदाहरण है। ध्वनि का विषय नहीं। अस्तु !

अब शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण लेते हैं—"**अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।**" इसका प्राकरणिक वाच्यार्थ है—

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि

"इसी समय वसन्तकाल का उपसंहार करता हुआ, खिली हुई मल्लिकाओं (जुही) के, अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले, हास से परिपूर्ण ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ।" इस अर्थ की प्रतीति के पश्चात् अनुस्वान (गूंज) के समान वाच्यार्थ का उपमानभूत दूसरा अप्राकरणिक अर्थ भी प्रतीत होता है—"प्रलयकाल में कृतयुगादि का उपसंहार करते हुए और खिली जुही के समान अट्टहास करते हुए महाकाल शिव के समान (ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ)।" अब देखना यह है कि यहाँ पर इस द्वितीय अर्थ की प्रतीति कैसे हुई ? 'महाकाल' के दो अर्थ होते ह—[१] एक रूढ़ अर्थ शिव या रुद्र और दूसरा [२] यौगिक अर्थ—दुरतिवहकाल अर्थात् ग्रीष्मकाल। यद्यपि यौगिक अर्थ की अपेक्षा रूढ़ि अर्थ ही मुख्य माना जाता है तो भी प्रकरणानुसार अन्वित होने से 'ग्रीष्म समय' ही गृहीत होगा। अतः यहाँ पर प्रकरण के हेतु से अभिधाशक्ति इसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो गई। जहाँ पर एकार्थ नियामक हेतु होता है, वहाँ पर अन्य अर्थों की प्रतीति न होने से श्लेष का अवकाश ही नहीं रहता। इस कारण द्वितीय अर्थ की प्रतीति श्लेष से तो नहीं हुई यह स्पष्ट हो

गया। परन्तु दूसरा अर्थ गर्भित अवश्य होता है जिसके कारण यह गद्यखण्ड उत्तम काव्य माना गया है। इस द्वितीयार्थ की प्रतीति का कारण यह है कि श्रोता के मन में 'महाकाल' शब्द का 'रुद्र' यह अर्थ तो संकेतित है ही। और 'महाकाल' इस शब्द के ग्रीष्म और रुद्र इन दोनों अर्थों में जो सादृश्य है उसके सामर्थ्यवश ध्वनन व्यापार भी होता है। इस प्रकार उक्त द्वितीयार्थ संकेतग्रहमूलक और ध्वननव्यापारमूलक होने से शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहाया।

इसी प्रकार पन्त जी के 'गुञ्जन' से उद्धृत निम्न प्रार्थना में:—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यक्त चिर नूतन!

"हे चिर अव्यक्त चिर नवीन ज्योतिस्वरूप जीवन! (जीवनप्रदाता प्रभो!) संसारक्षेत्र के लघुतम घास-पात पर भी जीवन (जलप्रदाता-मेघ) के समान अनुकम्पा करो।" 'जीवन' शब्द के दो अर्थ जीवन और जल होते हैं। प्रकरणानुसार प्रथम अर्थ में ही अभिधा शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से जल रूप द्वितीयार्थ वाच्य नहीं है अपितु विशेषणों की समान रूप से अन्विति होने के कारण दोनों अर्थों की समानता के बोध से आक्षिप्त होकर उपमा अलंकार रूप द्वितीय अर्थ ध्वनित होता है। अतः शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि का उदाहरण हुआ।

अब प्रकरणानुसार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण देखना चाहिये—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

"देवर्षि-मण्डल के ऐसा (पार्वती-शिव-विवाह की चर्चा और शिव

के विवाहार्थ सहमत होने की सूचना) कहने पर पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगी।" उक्त श्लोक के इस वाच्यार्थ से लज्जा नामक संचारीभावरूप अर्थान्तर ध्वनित होता है। "लीलाकमलपत्राणि गणयामास" इन शब्दों के स्थान पर पर्यायवाची अन्य शब्दों के रख देने से भी उक्त भाव ध्वनित होगा। इसलिए यह अर्थशक्तिमूलकसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि

रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जी को।
को रघुनन्दन रे? त्रिसरा-खरदूषण-दूषण भूषण भू को॥
सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा? सिय-चोरहिं देख्यो।
कैसे बँधायो? जु सुन्दरी तेरी छुई दृग सोवत पातक लेख्यो॥

—रामचन्द्रिका॥

अशोक-वाटिका को उजाड़ने पर मेघनाद ने हनुमान् जी को पकड़कर रावण के पास पेश किया। तत्कालीन रावण-हनुमान् के व्यङ्ग्यपूर्ण सम्वाद का यह अंश है। हनुमान् जी के उत्तरों से व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि श्रीराम महाबलशाली प्रतिद्वन्दी हैं। उनका पराक्रम विश्वविदित है। पर तुम्हें अभी तक उनके बल का पता न लगा, अतः तुम्हारा विनाश सन्निकट है…इत्यादि। और अनजाने में सोती हुई पर-स्त्री के दर्शन के पातक से बंदी बना हूँ, इस अर्थ के वर्णन से—"जान बूझ कर परस्त्री का अपहरण करने वाले तुम जैसे व्यक्ति का सर्वनाश अवश्यम्भावी है"—यह बात स्वतः सिद्ध होती है। अतः काव्यार्थापत्ति अलंकाररूप ध्वनि है। ये सभी ध्वनियाँ किसी पदविशेष के आश्रित न होने से अर्थशक्तिमूलक ही हैं।

यहाँ तक काव्य तथा ध्वनिकाव्य (उत्तम) के भेदों का प्रदर्शन कर चुके। उसी को तालिका रूप में निम्न प्रकार भी दिखाया जा सकता है:—
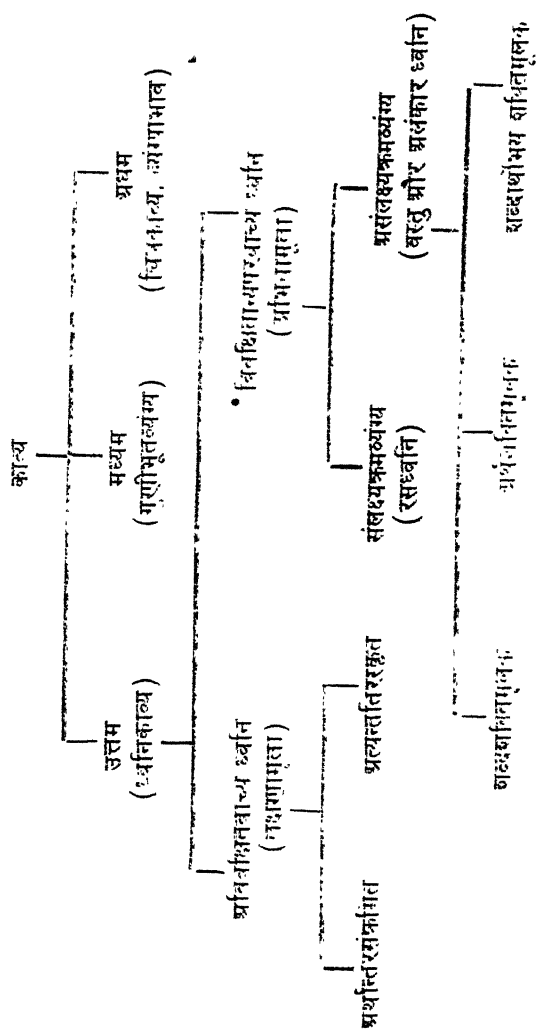
उपर्युक्त विवरण के अनुसार ध्वनि के १८ भेद होते हैं; जिनकी गणना निम्न प्रकार है:—

[१] अविवक्षितवाच्य ध्वनि के
  (i) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ... ... १ } २ भेद
  (ii) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य १

[२] विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के ... ...
  (i) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि ... ...
  (ii) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि १
    १ शब्दशक्तिमूलक (वस्तु-ध्वनि + अलंकार-ध्वनि) ... २ } १६ भेद
    २ अर्थशक्तिमूलक (स्वतःसम्भवी आदि के आधार पर) ... १२
    ३ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक १

(कुल) अठारह भेद

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि ध्वनि के अठारह भेद व्यंग्य के आधार पर किये गये हैं। पद, वाक्य आदि को दृष्टि में रखकर भी, व्यञ्जक के आधार पर और भेद करने पर यह संख्या ५१ हो जाती है।

ध्वनिकार के कर्तृत्व को देखते हुये हमें यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती और परवर्ती अन्य मतों का समाहार ध्वनि-सिद्धान्त में बड़ी योग्यता से किया। उनके द्वारा प्रतिपादित ध्वनि की महाविषयता को समझने के लिए काव्य-पुरुष के उस समग्र चित्र को सामने रखना पड़ेगा जो उन्होंने कल्पित किया है। वह निम्न प्रकार अङ्कित किया जा सकता है:—

ध्वनि में अन्य मतों का समाहार

रस और ध्वनि

ध्वनिकार से पूर्ववर्ती सिद्धान्त रस, गुण, रीति और अलंकार थे तथा परवर्ती वक्रोक्ति व औचित्य। इनमें रस के साथ ध्वनि का तो कोई विरोध हो ही नहीं सकता। भरत के रस-सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इसका आशय यह हुआ कि काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी का ही कथन किया जाता है, संयोग के परिणामस्वरूप रस का नहीं। रस उनके संयोग से स्वतः अभिव्यक्त हो जाता है; क्योंकि रस हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति ही तो है। अतः रस कभी भी वाच्य नहीं होता, वह सदा अभिव्यञ्जित ही होता है। ऐसी ही मान्यता ध्वनिकार की भी है—"**तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो** वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः **प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति**" (तीसरा रसादि रूप भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है, साक्षात् शब्दव्यापार का विषय नहीं होता)। इसी कारण से ध्वनिकार रस को 'रस-ध्वनि' कहते हैं। अपनी अलौकिकता के कारण 'रस-ध्वनि' ही एकमात्र असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है।

ध्वनि और अलंकार आदि

इसके बाद अब गुण-रीति, अलंकार और वक्रोक्ति रहे। इनका समाहार करने के लिये ध्वनिकार ने निम्न युक्ति-क्रम अपनाया। इनमें उन्होंने ध्वनि की महाविषयता की सम्यक्रीत्या स्थापना की।

ध्वनि (अङ्गी) के अभाव में गुण-रीति और अलंकार आत्मा से विहीन पंचतत्त्वों के समान निरर्थक हैं। वे ध्वनि की महत्ता को प्रकट करने के कारण ही सार्थक हो पाते हैं। गुण और अलंकारों की अंगता निम्न कारिका द्वारा प्रकट की गई है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥उद्यो० २॥ का० ६॥

'जो अङ्गी (प्रधानभूत ध्वनि) के आश्रित रहते हैं वे गुण; और जो अङ्ग (शब्द और अर्थ) के आश्रय से रहते हैं वे कटकादि की तरह अलंकार कहे जाते हैं।"

गुण—गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति दीप्ति आदि से है। अत: माधुर्यादि गुण ध्वन्यर्थ (रस या आत्मा) के साथ अन्तरंग रूप से सम्बन्धित होते हैं। ठीक वैसे ही जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के गुण माने जाते हैं।

अलंकार—अलंकार भी काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ से सम्बन्धित हैं—**अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्यादङ्गिनाश्चारुत्वहेतुरुच्यते** (उद्यो० २। कारिका १७वीं की व्याख्या)। रीति की तरह अलंकार नित्य धर्म नहीं, अस्थिर धर्म हैं। बिना शब्दालंकार और अर्थालंकार के भी काव्य के शब्द और अर्थ देखे जाते हैं।

रीति—(पदसंघटना) इसका सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ से है। इसका दर्जा भी अलंकारों के समान है। मुख्यतया काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ की उपकारक होकर अन्ततोगत्वा आत्मा (ध्वनि) की ही उत्कर्षक कही जा सकती है।

इसके अतिरिक्त रस, गुण-रीति, अलंकार और वक्रता आदि सभी ध्वनि के समान व्यंग्य ही रहते हैं। अर्थात् ध्वनि रूप में ही उपस्थित रहने के कारण एक प्रकार से ध्वनि की व्याख्या के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। कहीं भी वाचक शब्द द्वारा माधुर्यादि गुणों, वैदर्भी आदि रीतियों, उपमादि अलंकारों और वक्रता का कथन नहीं होता। इन सभी का क्षेत्र ध्वनि से न्यून ही है और ध्वनि की महाविषयता सिद्ध होती है।

ध्वनि-सिद्धान्त को जिन विरोधी आचार्यों के तर्कों का सामना करना पड़ा उनका थोड़ा सा अवलोकन करके इस प्रकरण को समाप्त

किया जायगा। संक्षेप में विरोधी आचार्यों की स्थिति निम्न प्रकार है:—

[क] भट्टनायक—इन्होंने भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन शब्दशक्तियों की उद्‌भावना करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की आधारभूत व्यञ्जना शक्ति की अनावश्यकता का प्रतिपादन किया। इनके तर्कों का ध्वन्यालोक के दिग्गज व्याख्याता अभिनवगुप्त ने पूरी तरह निराकरण करते हुए व्यञ्जना शक्ति की स्थापना की।

[ख] कुन्तक—इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। और उसकी व्यापक व्याख्या करते हुये ध्वनि को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करने का यत्न किया।

[ग] महिमभट्ट—इन्होंने भी ध्वनि की आधारभूत—व्यंजना वृत्ति—पर ही कुठाराघात किया। इनके मत में शब्द की केवल एक शक्ति—अभिधा—ही हो सकती है। अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा ही सम्भव है। यदि कोई नया नाम देना ही अभीष्ट है तो उसे 'काव्यानुमिति' कहा जा सकता है। परन्तु अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त यह नवीन व्यंजना शक्ति कहाँ से आ टपकी?

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि महिमभट्ट का यह सिद्धान्त शंकुक के अनुमितिवाद जैसा ही है। अतः तर्क की कसौटी पर उक्त 'अनुमितिवाद' की तरह यह भी परास्त हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनि-विरोधी आचार्यों को

प्रधान आपत्ति 'व्यंजना वृत्ति' पर ही है। अभिनवगुप्त तथा बाद को मम्मटाचार्य ने उक्त विद्वानों की शंकाओं का निराकरण करते हुए व्यंजना की स्थापना की है; उसका सारांश निम्न प्रकार है:—

१. प्रश्न उठता है कि यदि 'व्यंजना वृत्ति' स्वीकार न की जावे तो प्रतीयमान अर्थ का बोध कैसे होगा ?

यदि यह कहो कि अभिधा शक्ति से ! तो ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननें पर दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। या तो अभिधेयार्थ और प्रतीयमान अर्थ दोनों की प्रतीति साथ-साथ होगी अथवा क्रमिक-रूपेण। यदि साथ-साथ मानी जावे तो यह सर्वत्र सम्भव नहीं; जहाँ पर अभिधेयार्थ विधिरूप और प्रतीयमान निषेधरूप होता है वहाँ पर विधि-निषेध रूप विरोधी अर्थ एक ही व्यापार से एक साथ गृहीत नहीं हो सकते। क्रमिक रूप वाली दूसरी अवस्था में भी एक ही अभिधा शक्ति प्रथम अभिधेयार्थ की प्रतीति कराकर 'क्षीण-शक्ति' हो चुकती है, पुनः प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं रहती।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराने के लिए अभिधा शक्ति उपयुक्त नहीं। उसके लिए कोई अन्य शक्ति ही माननी पड़ेगी।

२. कुछ के मत में, 'प्रतीयमान' अर्थ की प्रतीति 'तात्पर्या' नामक शक्ति के द्वारा हो जायेगी। यह बात भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि तात्पर्या शक्ति के मानने वाले अभिहितान्वयवादी स्वयं ही इसको केवल पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध के अन्वय के बोध के लिए ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में प्रथम पदों का अन्वित अर्थ उपस्थित होता है। तदनन्तर तात्पर्या शक्ति से पदार्थों का संसर्ग रूप वाक्यार्थ उपस्थित होता है। अतः अत्यन्त विलक्षण जो प्रतीयमान अर्थ है उसके बोध कराने की क्षमता उसमें नहीं।

३. और यदि यह कहा जाय कि प्रतीयमान अर्थ 'लक्षणा वृत्ति' से बोधित हो सकेगा; तो यह भी असंगत है।

"गंगायां घोषः" इस उदाहरण में गंगाप्रवाह में ग्राम की स्थिति सम्भव न होने से मुख्यार्थ बाधित है। तब लक्षणा द्वारा तत्सम्बन्धित "गङ्गातट पर ग्राम है" यह लक्ष्यार्थ बोधित होता है। इसका प्रयोजन है ग्राम की शीतलता एवं पवित्रता के आधिक्य का बोध कराना। यहाँ पर यह प्रयोजन रूप अर्थ ही व्यंजना वृत्ति द्वारा बोधित होता है। इस प्रकार लक्षणा की सिद्धि के लिए तीन कारण माने गये हैं—मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और प्रयोजन। अब यदि यह कहा जाय कि प्रयोजन रूप अर्थ को लक्ष्यार्थ मान लिया जाय तो लक्षणा के उक्त तीन कारणों को भी दिखाना पड़ेगा। इस अवस्था में गङ्गातट रूप लक्ष्यार्थ को मुख्यार्थ मानना होगा, इसका बाध तथा प्रयोजन रूप अर्थ से सम्बन्ध दिखाना होगा और अन्य किसी प्रयोजन की भी खोज करनी पड़ेगी। स्पष्टतया स्वीकृत तथ्यों के विपरीत होने के कारण इन सबमें से एक की भी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः यही स्वीकार करना पड़ता है कि प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना वृत्ति को ही मान्यता देनी पड़ेगी; लक्षणा वृत्ति से उसकी पूर्ति सम्भव ही नहीं।

४. अन्तिम युक्ति यह है कि जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ सर्वथा अलग-अलग हैं तो उनकी प्रतीति के लिए वृत्तियाँ भी पृथक् ही स्वीकार करनी पड़ेंगी। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद निम्न तर्कों से सिद्ध है—

(*i*) अनेक उदाहरणों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भेद देखा जाता है, जैसे एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप।

(*ii*) किसी वाक्य का वाच्यार्थ तो एक ही सम्भव होता है; परन्तु व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं। जैसे—अस्तं गतोऽर्कः (सूर्य

अस्त हो गया), इस वाक्य का वाच्यार्थ तो यह एक ही है परन्तु वक्ता आदि कि भिन्नता के कारण, अब सन्ध्या करनी चाहिए, भ्रमणार्थ चलो या काम बन्द कर दो आदि अनेक व्यंग्यार्थ होते हैं।

(*iii*) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद भी होता है। प्रथम वाच्यार्थ तदनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

'ध्वनि' विषयक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यिक सिद्धान्त के इस प्रकार सामने आ जाने से वादों की प्रतिद्विन्द्वता कम हो गई और ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त को साथ लेकर साहित्यिक क्षेत्र में प्रायः सर्व-मान्य सा हो गया। परवर्ती मम्मटाचार्य ने सभी सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन कर उसकी पुष्टि की। इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी ध्वनि की सर्वाङ्गपूर्णता को ही पुष्ट करते हुए रस को अधिक महत्त्व देने की चेष्टा की, जिसका विरोध पण्डितराज जगन्नाथ ने किया। सारांश यही है कि ध्वनि-सिद्धान्त की मूर्धन्यता प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार की। हिन्दी का अलंकार-साहित्य इसी सर्वमान्य परम्परा को लेकर चला। इसीलिए हम देखते हैं कि हिन्दी अलंकार-शास्त्र में समन्वित रस और ध्वनि की मान्यता को आधार मान लिया है। आचार्य शुक्ल का रसवाद ऐसा ही है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

गढ़-रचना बरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।
आपु बंकई ही चढ़ै तरुनि तुरंगमि तानि॥—बिहारी॥

'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में पहले से होता आया है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से ऐकमत्य नहीं रहा। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में इसका प्रयोग किया है। साहित्य एवं लक्षणग्रन्थों में इसका जो प्रयोग हुआ है वह इस प्रसंग में दर्शनीय है:—

(१) बाण और अमरुक जैसे साहित्यिकों ने वक्रोक्ति का प्रयोग 'परिहास-जल्पित' के अर्थ में किया है। जैसे—**अभूमिरेषा भुजङ्ग-भङ्गिभाषितानाम्—कादम्बरी।**

(२) दण्डी और भामह दोनों ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति (साधारण-इतिवृत्तात्मक शैली) से विपरीत बनाते हुए क्रमशः 'श्लेष-पोषित' और 'सभी अलंकारों का मूल' माना है। जैसे:—

(क) श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥—दण्डी॥

(ख) वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते—भामह॥

(३) वामन ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हुए एक नवीन अर्थ प्रदान किया, और कहा कि वक्रोक्ति सादृश्य पर आश्रित लक्षणा ही है—**"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।" वामन॥**

(४) रुद्रट् ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना और उसके दो भेद—काकुवक्रोक्ति तथा श्लेषवक्रोक्ति—किये। रुद्रट् के अनुकरण में ही मम्मट आदि प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे इसी अर्थ में स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वक्रोक्ति शब्दालंकार के अर्थ में प्रायः सुनिश्चित होकर बैठ रहा।

(५) परन्तु 'लोचन' में भामह को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति की निम्न व्याख्या की—"**शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।**" अर्थात् शब्द और अर्थ की वक्रता इस बात में है कि वह लोक-प्रचलित रूप से भिन्न असाधारण रूप में सामने आये।

यह व्याख्या कुन्तक के बड़े काम की सिद्ध हुई। उन्होंने वक्रोक्ति के इसी विस्तृत आशय को लेकर अपने मन्तव्य के विशाल प्रासाद को खड़ा किया। और अन्य मतवादी आचार्यों की तरह एक दिशा के छोर की सीमा में पहुँचकर इसे काव्यात्मा उद्‌घोषित किया। उनके अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥ व० जी०॥

"सामञ्जस्यपूर्वक मिले हुए शब्द और अर्थ काव्य कहाते हैं। (कब ?) जबकि वे काव्यज्ञों के 'आह्लादजनक' और 'वक्रतामय-कवि-व्यापार वाले' बन्ध में विन्यस्त हों।"

यहाँ काव्यत्व की तीन शर्तें हैं (१) काव्यज्ञों के लिए आह्लादकत्व, (२) शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य और (३) वक्रतामय कवि-व्यापार। इनमें तीसरा वक्रतामय कवि-व्यापार मुख्यतया दर्शनीय है, क्योंकि शेष दो शर्तों के मूल में यही है। सहृदयहृदयाह्लादकत्व एवं शब्दार्थसामञ्जस्य दोनों का यही कारण है। इसकी व्याख्या वे निम्न प्रकार करते हैं :—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः॥
उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ व०जी०॥

"विवक्षितार्थ का वाचक शब्द, और अपने चमत्कार के कारण सहृदयों का आह्लादक अर्थ, दोनों ही अलंकार्य हैं। इनकी अलंकृति 'वक्रोक्ति' ही है। (वक्रोक्ति क्या?) कवि-कौशल-जन्य-भङ्गिमा रूप उक्ति ही वक्रोक्ति कही जाती है।" संक्षेपतः कवि की विदग्धता के कारण जो 'असाधारण कथन' या 'विचित्र उक्ति' है वही काव्य का एकमात्र अलंकार है, अद्वितीय कारण है और वक्रतामय कवि-व्यापार कहाता है। वक्रोक्ति को और स्पष्ट करते हुए वृत्ति में लिखते हैं—**वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, वैदग्ध्यं कविकौशलं भङ्गी विच्छित्तिः॥** साधारण कथन से व्यतिरिक्त जो कथन का विचित्र प्रकार है वही वक्रोक्ति है—**वक्रत्वं प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकवैचित्र्यम्॥**

इसी वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक ने काव्य का प्राण माना है—**वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्॥ व० जी०॥**

कुन्तक के विवेचन का तात्पर्य यह है कि काव्य की सर्वोपरि विशेषता यही है कि वह सहृदय जनों को आह्लादक होवे। इस आह्लादकत्व का कारण कवि-कथन की असाधारणता है। कवि की उक्ति असामान्य या विशिष्ट होती है, जो कथन के सामान्य प्रकार को अतिक्रान्त कर जाती है। उक्ति की इस असाधारणता या उक्तिचारुत्व का शास्त्रीय नाम 'वक्रोक्ति' है। वक्रोक्ति ही शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य लाकर उक्त वाञ्छित विशिष्टता पैदा करती है। इस कारण यही काव्य में जीवन-सञ्चार का हेतु है, काव्य का जीवन है—**वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।**

इसके अतिरिक्त कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हुए भी कवि-प्रतिभा और कल्पना पर बहुत जोर दिया है, क्योंकि उन्होंने वक्रोक्ति (या वक्र कवि-व्यापार) का अर्थ ही वैदग्ध्य-जनित चारु उक्ति किया है। यदि कवि में प्रतिभा नहीं होगी तो 'कथन की असामान्यता' विशृङ्खल होकर उन्मत्त-प्रलाप की तरह उपहास्य ठहराई जायेगी और

वह सहृदय के लिए आह्लादक नहीं हो सकती। शब्दार्थ-सामाञ्जस्य का यही रहस्य है। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रतिभा के बिना उक्ति में वैचित्र्य सम्भव नहीं। कवि का वैदग्ध्य ही उक्ति-वैचित्र्य का कारण है। अर्थात् कवि-प्रतिभा ही उक्ति-चारुत्व की जननी है। इस प्रकार उनके मत से काव्य में 'कवि-प्रतिभा का व्यापार' या 'कवि-व्यापार' बहुत महत्त्व का है। परन्तु 'कवि-व्यापार' के ऊपर उन्होंने अधिक प्रकाश नहीं डाला। सम्भवतः इसलिए कि काव्य-सृष्टि के लिए सर्वसम्मत कारण होने पर भी वह अनिर्वचनीय ही है। कवि-व्यापार की इस अनिर्वचनीय शक्ति का उल्लेख महाकवि पन्त ने भी 'पल्लव' की भूमिका में इस प्रकार किया है—"······किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उनकी (शब्दों और अर्थों की) निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण-खण्डों का समुदाय न कह ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं।"

एवं कुन्तक की स्थिति यह हुई कि 'वक्रोक्ति' काव्य का प्राण है। परन्तु वक्रोक्ति भी 'कवि-प्रतिभा के व्यापार' पर निर्भर है। अतः काव्य में 'कवि-व्यापार' की वक्रता का महत्त्व सर्वोपरि है। यह वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-लेखन तक में सम्भव है। इसलिए इसके उन्होंने छः भाग किये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रत्व (२) पदपूर्वार्ध-वक्रत्व (३) प्रत्यय-वक्रत्व (४) वाक्य-वक्रत्व (५) प्रकरण और (६) प्रबन्ध-वक्रत्व। कवि में प्रतिभा है, वैदग्ध्य है तो वह काव्य के प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग में असाधारणता ला सकता है और काव्य सहृदयाह्लादक बन जाता है।

अब हम कुन्तक की दृष्टि से काव्य का एकाध उदाहरण देख सकते हैं :—

तत्तोरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्॥

"इसके बाद अरुणोदय के कारण निष्प्रभ शरीर वाले चन्द्रमा ने काम-परितप्त कामिनी के कपोलों की पाण्डुता को धारण किया।" यहाँ पर कथनीय बात केवल इतनी है कि "सूर्योदय होने पर चन्द्रमा की आभा फीकी पड़ गई।" साधारण लोक-व्यवहार में इसका कथन इसी प्रकार सीधे ढंग से किया जाता है। परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न कवि इसी उक्ति को अपने वैदग्ध्य के बल पर कुछ दूसरे ढंग से कहेंगे। "सीधे ढंग" की अपेक्षा जो "दूसरा ढंग" है वही वक्रोक्ति है। इस वक्रोक्ति की वजह से चन्द्रमा सचेतन की तरह व्यवहार करने लगता है और काम-परितप्त कामिनी की पाण्डुता को धारण कर लेता है। इसी से इस उक्ति में आह्लादकत्व आ जाता है। अतः यह काव्य है।

इसी काव्य के साथ वाल्मीकि रामायण की सुप्रसिद्ध राम की यह उक्ति—"न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।"—भी रखी जाती है। 'जिस प्रकार बाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो,' इस सामान्य अर्थ को "वह मार्ग बन्द नहीं हुआ है जिससे मरकर बाली गया है", इस असाधारण रूप में प्रकट करने से उक्ति में काव्यत्व आ गया है। महाकवि निराला की एक उक्ति को देखिये :—

> देखो यह कपोतकण्ठ, बाहु बल्ली कर सरोज
> उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
> नितम्ब भार—चरण सुकुमार—गति मंद मंद
> छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का
> देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है॥

यहाँ पर वस्तु केवल इतनी है—'यह रूप-राशि अति कमनीय है।' कवि ने अपने निराले कथन-प्रकार में इसे यों बाँधा—"अंग प्रत्यंग की चारुता देखो, ऋषि-मुनियों तक का धैर्य छूट जाता है, तब बेचारे भोगियों की गति तो निराली ही होगी।" कथन के इस निरालेपन को ही वक्रता कहते हैं। अतः यहाँ भी काव्यत्व है।

अलंकारवादियों की दृष्टि में यहाँ काव्यार्थापत्ति होने से काव्यत्व है, क्योंकि ऋषि-मुनियों के धैर्य के छूट जाने से भोगियों का धैर्य छूट जाना स्वतः सिद्ध है। और ध्वनिवादियों की दृष्टि से यह रस-ध्वनि का उदाहरण है क्योंकि वाच्यार्थ की अपेक्षा शृङ्गार-रस-रूप-व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार है। अस्तु !

कुन्तक की वक्रोक्ति के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रयोग उन्होंने बहुत व्यापक अर्थ में किया है। वक्रोक्ति नामक अलंकार भी है, पर यहाँ यह अति संकुचित अर्थ में—वक्रीकृता उक्ति—प्रयुक्त हुआ है। भामह और अभिनव की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति को उन्होंने विस्तृत अर्थ में ही ग्रहण किया है। भामह ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए बताया कि किसी भी बात को कहने के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। ये प्रकार या साँचे ही 'अलंकार' हैं, इनमें अपनी बात को ढालकर प्रस्तुत करने से उक्ति में काव्यत्व आ जाता है। अतः अलंकार ही काव्यात्मा रूप से स्वीकरणीय हैं। इसके आगे भामह यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी अलंकारों का मूल वक्रोक्ति है—**वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः**। अलंकारवादी भामह और कुन्तक में केवल इतना ही भेद है कि काव्यात्मा की खोज करते हुए भामह 'अलंकारों' पर ही अटक गये, जबकि कुन्तक अलंकारों के भी मूल में रहने वाली 'वक्रोक्ति' तक जा पहुँचे। अतः कुन्तक को अलंकार-सम्प्रदाय का ही पोषक माना जाय तो कुछ हानि नहीं। इसी तथ्य को डाक्टर नगेन्द्र ने डाक्टर काणे के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा है—"वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुन्तक ने अलंकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।"

कुन्तक ने अपने काव्य की परिभाषा देते हुए **"बन्धे व्यवस्थितौ"** भी कहा है। इससे रीति-सम्प्रदाय को भी अपने समीप लाने की चेष्टा

की है। वैसे भी इन दोनों सम्प्रदायों की दृष्टि बाह्य रूप पर ही होने से निकट ही है। आगे चलकर कुन्तक ने स्वयं ही गुणों की व्याख्या कवि-व्यापार के प्रकरण में की है। कवि-व्यापार के उन्होंने तीन भाग किये—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इनकी अभिव्यक्ति के माध्यम सुकुमार आदि तीन मार्ग हैं जो कि माधुर्यादि गुणों पर आश्रित हैं। इस प्रकार इन्होंने गुणों को भी अपने काव्य-विवेचन में स्थान दे दिया।

इसी प्रकार रस और ध्वनि भी वक्रोक्ति की सीमा में समेटे गये हैं। वक्रोक्ति की परिभाषा में अति-व्याप्ति दोष भले ही हो, अव्याप्ति नहीं। अति-व्याप्ति इसलिए कि "जहाँ वक्रोक्ति है वहाँ काव्यत्व भी है" यह मान्यता आज स्वीकार नहीं की जा सकती; इससे सूक्तियां भी काव्य-कोटि में गिनी जाने लगेंगी। इसके विपरीत "जहाँ ध्वनित्व या रसत्व होगा वहाँ वक्रत्व भी होगा" ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं। ध्वनि व्यञ्जना वृत्ति के आश्रित होने से इतिवृत्तात्मकता से भिन्न होकर कवि-प्रतिभा सापेक्ष्य है। अतः वहाँ पर असाधारणता होना स्वाभाविक है। और रस के स्थल में भी इसी प्रकार की असामान्यता स्वतः सिद्ध है, क्योंकि यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि रस या भाव दीप्ति के अवसर पर उक्ति में विशिष्टता आ ही जाती है। वाणी भावानुकूल होकर विलक्षणता को हठात् वरण कर लेती है। हाँ, क्रम के सम्बन्ध में कुन्तक वैज्ञानिक तथ्य से दूर हैं। वे वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानते हैं, जबकि सत्य यह है कि भावों की दीप्ति के कारण वाणी में अनुकूल आवेग पैदा हो जाता है।

इस प्रकार कुन्तक ध्वनि-विरोधियों की प्रभाववादी कोटि में न होकर ध्वनि को भाक्त (गौण) या लक्षणा-प्रसूत मानने वालों की श्रेणी में आते हैं। और 'रस' के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य यही है कि वह वक्रोक्ति का एक तत्त्व-मात्र है; अनिवार्य नहीं। वाक्य-वक्रता के प्रसंग में उन्होंने रस और रसवदादि की समीक्षा की है।

सार रूप में कुन्तक की मान्यताएँ निम्न हैं :—

(*i*) जहाँ वक्रता होगी वहाँ काव्यत्व होगा। जहाँ वक्रता नहीं वहाँ काव्यत्व नहीं। अतः 'स्वाभावोक्ति' में काव्यत्व नहीं हो सकता।

(*ii*) काव्यत्व के लिए वक्रता (उक्तिवैचित्र्य) अनिवार्य है। अतः काव्यत्वाधिवास उक्ति में है, व्यंग्य वस्तु या भाव में नहीं।

(*iii*) वक्रोक्तिवाद कवि-प्रतिभा के व्यापार अथवा वैदग्ध्य पर आश्रित है। अतः यह बहुत व्यापक है।

यद्यपि कुन्तक ने अपने मत के मण्डन में अच्छी सूझ-बूझ और विवेचन में मौलिकता का परिचय दिया है तो भी उनका मत उन्हीं तक सीमित रहा, विस्तार न पा सका। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि वक्रता की परिभाषा में अतिव्याप्ति का भारी दोष था, जो 'ध्वन्यालोक' जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की विवेचना के सामने मान्य न हो सका। उसने काव्य का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन उपस्थित कर ऐसे मतों के लिए अवकाश ही न रहने दिया।

स्वच्छन्दतावाद (Romanticism)

मनुष्य की भाषा एक सामजिक संगठन होने के कारण स्थायी संस्था है। भाषा का स्थायित्व ही उसकी उपयोगिता बढ़ाता है। भाषा ही हमारे पारस्परिक व्यवहार की साधिका है। अतः पण्डितों तथा वैयाकरणों का यह प्रयत्न रहता है कि भाषा में नवीनता या परिवर्तन न आने पावे। इन सबके होते हुए भी भाषाविज्ञान हमें यही बताता है कि भाषा का वेग अनियन्त्रित है। भाषा का हमारे दैनिक जीवन से प्रत्यक्ष लगाव है, रात-दिन के काम-काजों में वह हमारी सहचरी है। आन्तरिक गूढ़ सन्देश भाषा के माध्यम द्वारा ही प्रकाश में आते हैं। ऐसी अवस्था में जीवन की तरह भाषा भी परिवर्तनशील ठहरती है।

यदि भाषा में यह परिवर्तनशीलता या विकासशीलता न होवे तो क्या उसमें वह सजीवता हमें मिल सकती है जिसकी कि साहित्यज्ञ खोज में रहा करते हैं ? कदापि नहीं। वह एक बन्द सरोवर के पानी की तरह ताजगीरहित होगी। संसार की न जाने कितनी भाषाएँ अपने वैभव और उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचकर जड़ता के बोझ से दब गईं; तब उनकी समृद्धि भी उनके जीवन की रक्षा न कर सकी, क्योंकि उनमें गतिशीलता का प्राणतत्त्व शेष न रह गया था। संसार की भाषाओं के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक युगों में भी यही बात देखने में आती है। पण्डितों और विद्वानों की प्रौढ़ भाषा सदा ही पीछे छूटती रही और लोक में स्वाभाविक गति से फलने-फूलने वाली वाग्धाराएँ क्रमशः आ-आकर प्रतिष्ठित होती रहीं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"प्राकृत के पुराने रूपों से लगी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब 'शिष्ट-काव्य' प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका।"

जो बात भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कही गई है, भावों के विषय में भी लागू होती है। भावों का—वैसे तो—अपना स्वरूप चिरनवीन और सदा मर्मस्पर्शी होता है परन्तु जब साहित्यिक पण्डित भाषा की तरह भावों के क्षेत्र में भी सीमाबद्ध होकर आकर्षणहीन हो जाते हैं तो भावों का चमत्कार निस्तेज होकर मन्द पड़ जाता है। भावों का अनन्तलोक ही साहित्य का प्राण है। जब परम्परागत रूढ़ियों और परिपाटियों का जाल इतना सघन हो जाता है कि उसकी जटिलता में भावक्षेत्र तक उलझकर निष्प्राण होने लगता है तो साहित्यिक-सन्निपात की वह शोचनीय दशा सामने आती है जिसके उद्धार में नवीन प्रतिभाशाली कवि ही समर्थ होते हैं।

विद्वत्समाज की गूढ़ साहित्यिक कृतियाँ जब रूढ़ियों के पङ्क में धँसकर निश्चल एवं गतिहीन हो जाती हैं तब भी लोक की अपढ़ जनता में लोक-गीतों की दिव्य मनोहारी छटा अपने स्वाभाविक विकास के कारण मदमाती चाल से ठुमुकती है। जीवन के साक्षात् सम्बन्धों के कारण उद्भूत रमणीय भावावली प्रचलित चालू भाषा में अलंकृत हो आगे आती है; जिसके कारण यह इतनी शोभाशाली होकर व्यापकता प्राप्त करती है और साहित्यिकता के पद पर अभिषिक्त हो जाती है।

जिन प्रतिभाशाली कवियों में पंडितों की बँधी हुई रूढ़ियों से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में विचरण करने की यह प्रवृत्ति लक्षित होती है, वे ही स्वच्छन्दतावादी कवि कहाते हैं, और नवीन साहित्य के निर्माता के पद पर अधिष्ठित होते हैं। उनकी कृतियाँ लोकानुमोदित शैली में सार्वभौमिक भाव-भूमिकाओं में अग्रसर होती हैं।

यह काव्यगत क्रान्ति का अपना अटल नियम है। प्रत्येक भाषा के साहित्यिक इतिहास में इस प्रकार की अवस्था आती है; तब प्रकृति के स्वाभाविक नियमों के बल से काव्यात्मा रूढ़ियों के जाल को काटकर

स्वतन्त्र वातावरण में उन्मुक्त हो विचरण करती है। इसी कारण सच्चे स्वच्छन्दतावादी कवियों की वाणी में वह आकर्षण होता है जो लोक को भावविभोर कर गद्‌गद-कण्ठ कर देता है।

स्वच्छन्दतावादी कवि का प्रधान कर्तृत्व यह होता है कि वह लोक-प्रचलित स्वाभाविक भावधारा के ढलान की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करे।

स्वच्छन्दतावादी कवियों की सर्वाधिक विशेषता काव्य-प्रतिभा है। रूढ़िगत अनुकरणप्रियता उनमें नहीं होती। पुरातन काव्य-भण्डार के अनुशीलन से उनकी प्रतिभा एक सुनिश्चित लीक का अनुसरण नहीं करती अपितु नवीन प्रेरणा पाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष लोकानुभव उन्हें वह स्फूर्ति प्रदान करता है जिसके बल पर उनका काव्य अलौकिक नवीनता धारण करता है।

परन्तु एक बात सुनिश्चित है। प्रतिक्रिया के रूप में उठने वाले इतर साहित्यिक वादों से स्वच्छन्दतावाद को पृथक् रखना पड़ेगा क्योंकि इसकी महत्ता इसी में है कि यह साहित्यिक सामञ्जस्य के रूप में उद्‌भूत होता है, अन्ध-प्रतिक्रिया के रूप में वैपरीत्य की सीमारेखा को नहीं पहुँचता। अस्तु !

समाहाररूपेण प्राकृतिक स्वच्छन्दतावाद की रूपरेखा को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:—

(i) इसमें वे ही अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ स्वीकृत की जाती हैं जिनका स्वभावतया लोकसामान्य में विकास हो चुका है क्योंकि उन्हीं में सार्वजनिक मन रमण पाता है। जनसाधारण जिस रीति से अपने भावों को ढालता आ रहा है स्वच्छन्दता-वादी कवि उन्हीं को अपनाता है। लोकगीतों की लय इस दिशा में पथप्रदर्शन करती है।

(ii) प्रकृति के स्वरूपनिरीक्षण में लोकपरिचिति तथा रागात्मकता

जो बात भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कही गई है, भावों के विषय में भी लागू होती है। भावों का—वैसे तो—अपना स्वरूप चिरनवीन और सदा मर्मस्पर्शी होता है परन्तु जब साहित्यिक पण्डित भाषा की तरह भावों के क्षेत्र में भी सीमाबद्ध होकर आकर्षणहीन हो जाते हैं तो भावों का चमत्कार निस्तेज होकर मन्द पड़ जाता है। भावों का अनन्तलोक ही साहित्य का प्राण है। जब परम्परागत रूढ़ियों और परिपाटियों का जाल इतना सघन हो जाता है कि उसकी जटिलता में भावक्षेत्र तक उलझकर निष्प्राण होने लगता है तो साहित्यिक-सन्निपात की वह शोचनीय दशा सामने आती है जिसके उद्धार में नवीन प्रतिभाशाली कवि ही समर्थ होते हैं।

विद्वत्समाज की गूढ़ साहित्यिक कृतियाँ जब रूढ़ियों के पङ्क में धँसकर निश्चल एवं गतिहीन हो जाती हैं तब भी लोक की अपढ़ जनता में लोक-गीतों की दिव्य मनोहारी छटा अपने स्वाभाविक विकास के कारण मदमाती चाल से ठुमुकती है। जीवन के साक्षात् सम्बन्धों के कारण उद्भूत रमणीय भावावली प्रचलित चालू भाषा में अलंकृत हो आगे आती है;, जिसके कारण यह इतनी शोभाशाली होकर व्यापकता प्राप्त करती है और साहित्यिकता के पद पर अभिषिक्त हो जाती है।

जिन प्रतिभाशाली कवियों में पंडितों की बँधी हुई रूढ़ियों से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में विचरण करने की यह प्रवृत्ति लक्षित होती है, वे ही स्वच्छन्दतावादी कवि कहाते हैं, और नवीन साहित्य के निर्माता के पद पर अधिष्ठित होते हैं। उनकी कृतियाँ लोकानुमोदित शैली में सार्वभौमिक भाव-भूमिकाओं में अग्रसर होती हैं।

यह काव्यगत क्रान्ति का अपना अटल नियम है। प्रत्येक भाषा के साहित्यिक इतिहास में इस प्रकार की व्यवस्था आती है; तब प्रकृति के स्वाभाविक नियमों के बल से काव्यात्मा रूढ़ियों के जाल को काटकर

स्वतन्त्र वातावरण में उन्मुक्त हो विचरण करती है। इसी कारण सच्चे स्वच्छन्दतावादी कवियों की वाणी में वह आकर्षण होता है जो लोक को भावविभोर कर गद्गद-कण्ठ कर देता है।

स्वच्छन्दतावादी कवि का प्रधान कर्तृत्व यह होता है कि वह लोक-प्रचलित स्वाभाविक भावधारा के ढलान की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करे।

स्वच्छन्दतावादी कवियों की सर्वाधिक विशेषता काव्य-प्रतिभा है। रूढ़िगत अनुकरणप्रियता उनमें नहीं होती। पुरातन काव्य-भण्डार के अनुशीलन से उनकी प्रतिभा एक सुनिश्चित लीक का अनुसरण नहीं करती अपितु नवीन प्रेरणा पाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष लोकानुभव उन्हें वह स्फूर्ति प्रदान करता है जिसके बल पर उनका काव्य अलौकिक नवीनता धारण करता है।

परन्तु एक बात सुनिश्चित है। प्रतिक्रिया के रूप में उठने वाले इतर साहित्यिक वादों से स्वच्छन्दतावाद को पृथक् रखना पड़ेगा क्योंकि इसकी महत्ता इसी में है कि यह साहित्यिक सामञ्जस्य के रूप में उद्भूत होता है, अन्ध-प्रतिक्रिया के रूप में वैपरीत्य की सीमारेखा को नहीं पहुँचता। अस्तु !

समाहाररूपेण प्राकृतिक स्वच्छन्दतावाद की रूपरेखा को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:—

(i) इसमें वे ही अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ स्वीकृत की जाती हैं जिनका स्वभावतया लोकसामान्य में विकास हो चुका है क्योंकि उन्हीं में सार्वजनिक मन रमण पाता है। जनसाधारण जिस रीति से अपने भावों को ढालता आ रहा है स्वच्छन्दता-वादी कवि उन्हीं को अपनाता है। लोकगीतों की लय इस दिशा में पथप्रदर्शन करती है।

(ii) प्रकृति के स्वरूपनिरीक्षण में लोकपरिचिति तथा रागात्मकता

का कवि को खूब ध्यान रहता है । अर्थात् स्वच्छन्दतावादी कविता में लोकपरिचित प्राकृतिक दृश्यों और पशु-पक्षियों का ही समावेश रहता है । अपरिचित पेड़-पौदों और नदी-पर्वतों से उसे अजब नहीं बनाया जाता । सर्वसाधारण लोगों के हृदय का जिन पेड़-पौदों, लता-गुल्मों, पशु-पक्षियों और इतर प्राकृतिक विभूतियों से राग हो चुका है, उन्हें ही इसमें स्थान दिया जाता है । वर्तमान छायावादी कविता में ऊपर की दोनों विशेषताओं का अभाव है । इसी कारण उक्त काव्य का लोक में वैसा स्वागत न हुआ जैसा होना आवश्यक था । और इसीलिए उसमें नवीनता की प्रचुर मात्रा के होने पर भी वह स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्गत नहीं ।

(*iii*) उक्त दोनों विशेषताओं के अतिरिक्त सबसे अनोखी बात इस काव्य में भावों की उद्भावना के सम्बन्ध की है । इसमें बँधी-बँधाई बहुशः ग्रथित भावावली का पौनःपुन्येन पिष्टपेषण नहीं किया जाता अपितु लोकरुचि का प्राकृतिक रुझान जिन मार्मिक भावों की ओर रहता है उनकी अन्तर्भूमियों को परखकर उनसे सुसंगत भावों की नई-नई उड़ान को लेकर कवि आगे बढ़ता है । इन भावों की मनोहारिता में नित्य नवीनता के दर्शन होते हैं; और अपने स्वतन्त्र विकास की गति के कारण स्वच्छन्दतावाद की रम्य परिधि को अलंकृत करते हैं ।

संसार के साहित्य के इतिहासों पर दृष्टि डालने से हमें यह भी पता चलेगा कि स्वच्छन्दतावाद अपने आप में कोई वादगत वस्तु नहीं । वस्तुतस्तु इसे काव्य की गति की एक स्वाभाविक कोटि मान सकते हैं; क्योंकि स्वच्छन्दतावाद का मूल तत्त्व ऐसी काव्यगत मौलिकता है जिसका समादर लोक में भाव और शैली की अनुकूलता के कारण होता है । अतः काव्य की धारा अपने वेग में नवस्फूर्ति लाने के लिए समय-समय

पर इस प्रकार के प्रयासों की संयोजना स्वभावतः करनी रहती है। फलतः इसे विशिष्ट विचारधारा के आग्रह से समुत्पन्न शुद्ध वाद के रूप में नहीं लिया जा सकता। हमारे हिन्दी-साहित्य में कबीर की स्वच्छन्द मौलिकता प्रसिद्ध है; परन्तु उनकी काव्यधारा अपने समय की किसी रूढ़ काव्यधारा के समानान्तर न थी। माधुर्यभाव से ब्रह्म को प्रियतम (माशूक) मानकर भावोद्गार प्रदर्शित करने में इन्होंने विशेष सूझ-बूझ का परिचय दिया। अभिव्यञ्जन की प्रणाली इनकी वही थी जो उस समय सौभाग्य से काव्य और लोक दोनों में प्रचलित थी। अतः कबीरदास जी के सम्बन्ध में यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने प्रचलित काव्यधारा से पृथक् अपना नया मार्ग निकाला तो भी उनकी स्वच्छन्दवादिता अंशतः स्वीकार करनी पड़ती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी स्वच्छन्दवादिता के प्रकृत लक्षण के अन्तर्गत नहीं आ सकते। नवीन काव्यधारा के प्रथम उत्थान में इन्होंने भावक्षेत्र में नवीनता का परिचय अवश्य दिया। काव्य के पुराने विषय रीतिकालीन थे, लोगों को उनमें रुचि न रह गई थी। इन्होंने काव्य में नवीन विषयों का समावेश कर लोकजीवन के मेल में बिठाया। परन्तु काव्य की विधान-प्रणाली को इन्होंने रीतिकालीन ही रखा। अतः केवलमात्र भावदृष्ट्या ही वे स्वच्छन्दतावादी कहे जा सकते हैं।

अच्छी स्वच्छन्दवदिता के दर्शन हमें काव्य की नूतन धारा के द्वितीय उत्थान में होते हैं। प्राचीन रीतिकालीन कविता रसों और अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही होती थी। छन्द भी लगभग गिने-चुने रहते थे। उस सीमित परिपाटी में कवियों को अपनी प्रतिभा का आलोक फैला सकने का स्वच्छन्दतापूर्वक अवकाश न था। जैसा कि कहा जाता है कि भारतेन्दु बाबू भी इस स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं ला सके, यद्यपि उनकी प्रतिभा अवश्य ही नवीनता-सम्पन्न थी। सर्वप्रथम श्रीधर पाठक ने "एकान्तवासी योगी" निकाला। इसमें स्वच्छन्दतावाद की सम्पूर्ण विशेषताओं का रुचिर एवं मनोज्ञ समावेश मिला—

(क) इसकी भाषा और लय वही थी जिसे लोक अपनाकर चल रहा था, अर्थात् खड़ीबोली तथा प्रचलित छन्दों की तर्ज़।

(ख) भावदृष्ट्या भी किसी के प्रेम में योगी हो जाने की कल्पना "सार्वभौम-मार्मिकता" से परिपूर्ण थी।

अतः यह स्पष्टतया स्वीकार किया जायेगा कि भाषा, शैली और भाव तीनों की दृष्टि से पाठक जी का उपक्रम सर्वथा नवीन एवं कौशल-पूर्ण और लोकरुचि के अनुकूल था।

परन्तु पाठक जी द्वारा प्रशस्त दिशा में हिन्दी-काव्य-धारा चल न सकी। इनके सहयोगियों में रामनरेश त्रिपाठी जी का ही नाम लिया जा सकता है। इसका कारण यह था कि संस्कृत-साहित्य की पिछली परिपाटी के संस्कारों को लेकर आने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी हमारे साहित्य के कर्णधार के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इनके प्रभाव के कारण रीतिकालीन परिपाटी के जाल से हिन्दी-काव्य ने मुक्ति पाई; पर संस्कृत-साहित्य की वाद की परम्पराओं से सम्बन्ध न त्यागा जा सका। फलतः तथाकथित द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता, गद्यवत् रूक्षता और बाह्यार्थ-निरूपकता का चलन हुआ।

तृतीय उत्थान में हिन्दी-काव्य-धारा इसी की प्रतिक्रिया में चलकर विदेशी अनुकृत रूढ़ियों और वादों में जा फँसी। यह प्रवृत्ति निःसन्देह अस्वास्थ्यकर सिद्ध हुई। यदि प्रतिक्रिया का आवेग इतना उग्र न होता तो रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडे आदि द्वारा स्वाभाविकरीत्या विकसित की जा रही हिन्दी-काव्य-धारा, जिसमें स्वच्छन्दतावाद का सम्यक् आभास था, के ही दर्शन तृतीय उत्थान में होते। इस अवस्था में तृतीय उत्थान की कविता वैदेशिक साहित्य के प्रभाव की उमड़ती हुई काली घटा से आच्छादित न दीखती। हमारे साहित्य की वाग्धारा बनी-बनायी एक प्रणाली में एकबारगी बह पड़ी, स्वाभाविक-रीत्या अन्वेषित मार्ग में न जा सकी।

गुप्त जी, त्रिपाठी जी और पांडे जी जिस स्वाभाविक काव्यधारा को स्वच्छन्दतापूर्वक आगे बढ़ा रहे थे उसमें निम्न विशेषताएँ थीं:—

(i) इनके काव्यों की भावभूमि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्रों से गृहीत थी।

(ii) ये प्रकृति के सामान्य, असामान्य सभी लोक-परिचित रूपों का समावेश अपने काव्य में कर रहे थे।

(iii) और भाषा को माँजकर उसकी अभिव्यञ्जनशैली में लाक्षणिकता, चित्रोपमता और सूक्ष्मता भर रहे थे।

यह सब स्वच्छन्दता के पथ पर स्वाभाविक गति से हो रहा था, अतः स्वच्छन्दतावाद के निकट समझा जा सकता है।

अब, जबकि छायावादी-रहस्यवादी स्वरों की संक्रमणता कुछ कम हुई है तो काव्य की गति के नियामक नियमों के अनुसार छायावादी प्रभाव की प्रतिक्रिया सामने आई। उसके भावतत्त्व और शैलीतत्त्व दोनों में ही अपूर्णता दीखने लगी; अतः वायवीय भाववस्तु और सूक्ष्म एवं सीमित काव्योपादानों के स्थान पर व्यवहाराश्रित सामाजिक जीवन की मूर्त्त अनुभूतियाँ तथा सुनिश्चित बौद्धिक धारणाएँ, मूर्त-सघन विविध काव्यसामग्री के साथ आग्रहपूर्वक सामने लायी जाने लगीं। आचार्य शुक्ल के निष्कर्षों के अनुसार तृतीय उत्थान में खड़ीबोली की काव्य-धारा निम्न तीन धाराओं में बही:—

(१) द्विवेदीकाल की क्रमशः विस्तृत और परिष्कृत होती हुई धारा।

(२) छायावाद कही जानेवाली धारा।

(३) और स्वाभाविक स्वच्छन्दता को लेकर चलती हुई धारा।

इसमें स्वच्छन्दता को लेकर चलने वाली तीसरी धारा के लेखकों में दो श्रेणियाँ स्पष्टतया प्रतीत होती हैं। प्रथम कक्षा के कवि सचेष्ट होकर सामाजिक और राजनैतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन

की व्याख्या और प्रचार-प्रसार में तत्पर हैं। ये 'प्रगतिवादी' नाम से अभिहित हैं। दूसरे प्रकार के कवि राजनैतिक गतिविधियों के प्रति सजग रहते हुए भी साहित्यिक जीवन को ही प्रधान बनाकर काव्य की वस्तु और शैली-विधान में परीक्षणात्मक प्रयोग करते चले जा रहे हैं। ये प्रयोगवादी कवि (Empericist) हैं। इनका साहित्यिक रूप ही प्रधान है, किसी राजनैतिक बन्धन में नहीं बँधे। इनका मुख्य आग्रह काव्य की वस्तु और शैली में निरन्तर नवीन प्रयोग करते चले जाना है। नूतनता से इन्हें विशेष मोह रहता है।

इस समय हमारी हिन्दी-कविता पर से में छायावाद का खुमार उतर चुका है और प्रगतिवादियों तथा प्रयोगवादियों का ही बोलबाला है। प्रगतिवादी कवियों का तो स्पष्टतया उद्घोषित लक्ष्य भौतिक है, अतः यहाँ उनके विषय में विचार करना अभीष्ट नहीं। प्रयोगवादी शुद्ध साहित्यिक हैं, अतः उनकी गतिविधि की परीक्षा इस दृष्टि से करनी आवश्यक है कि वे कहाँ तक शुद्ध स्वच्छन्दतावाद के मार्ग में अग्रसर हैं। क्योंकि यह बात ऊपर कही गई है कि शुद्ध स्वच्छन्दतावाद ही काव्यगत मन्थरत्व को दूर कर उसे स्वस्थ गति प्रदान करता है।

काव्य के क्षेत्र में यों तो सदा-सर्वत्र नूतन प्रयोग होते रहे हैं और उनका महत्त्व भी रहा ही है परन्तु हिन्दी में इस समय इस दृष्टि के कवि विशेष रूप से नवीन अन्वेषणों और प्रयोगों में तल्लीन हैं। इसका कारण यही है कि छायावाद के विपरीत चरम सीमा तक जाकर दिखा देने की लालसा उनमें प्रबल है। अतः वे छायावाद की स्वीकृत-विशेषताओं के सामने सर्वथा विपरीत भावना वाली मान्यताएँ क्रमशः रखते चले जा रहे हैं। छायावाद सौन्दर्य-बोध को जिस कोमलता एवं मसृणता की सीमा में बाँधकर रखना चाहता है इसे वह स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य-बोध व्यापक भावना से ग्रहण करना उचित है। जीवन में कोमल और रूक्ष, स्थूल और सूक्ष्म सभी आते हैं,

अतः सौन्दर्य भी अपने रूप में सर्वत्र व्यापक है। छायावादियों की रोमानी सौन्दर्य-सत्ता काल्पनिक, भावगत और एकदेशीय है। वर्तमान जीवन विचार के प्रत्येक क्षेत्र में सन्देहवादी है; प्रत्येक पुरातन रूढ़ कल्पना सन्देह की शाण पर रखी जा रही है; तब रोमानी-सौन्दर्य-बोध ही क्योंकर अपने पुराने रूप में स्वीकार कर लिया जाय? अतः उनकी दृष्टि में सौन्दर्य की चेतना अत्यन्त व्यापक और गत्यात्मक है, जो जीवन के साथ विकास पाती रहती है। जैसे मधुर और कोमल उसके रूप हैं उसी तरह अनघड़ और परुष भी।

इसी प्रकार प्रयोगवादी यहां तक आगे बढ़ते हैं कि सभी पुराने काव्योपादानों को अनायास अमान्य* ठहराते हैं। और पुराने कवि जिस भावुकता से वस्तु को लेने के आदी हो गये थे उसके विपरीत ये शुद्ध वस्तु-गत दृष्टिकोण से ही वस्तु को प्रस्तुत करते हैं; उस पर अपने मन की रंगत नहीं चढ़ाते। वस्तु को वस्तुगत रूप में ही देखने के कारण वे यह भी आवश्यक मानते हैं कि उसे यथातथ्य रूप में ही अङ्कित किया जाय। फलतः प्रयोगवादियों में जो अन्तर्मुख कवि हैं वे अपने अन्तस् की उलझनों को यथातथ्य रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, जो अवश्य ही अस्पष्ट और दुरूहता के दोष से युक्त होती हैं।

इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान, राजनीतिकशास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि के अध्ययन से उद्भूत व निष्पन्न बौद्धिक धारणाओं को अपने काव्य का मुख्य उपादान बनाते हैं। इसके कारण उनकी कविता में कठिन बौद्धिकता छाई रहती है।

भावतत्त्व के ही समान वे शैली-विज्ञान में भी सर्वथा नवीन प्रयोगों की लड़ी लगा देते हैं। भाषा के एकान्त व्यक्तिगत प्रयोगों तक का साहस करते हैं, जिससे भाषा की उपयोगिता का मूल तत्त्व—सार्वजनीनता—ही विनष्ट हो जाती है। प्रेषणीयता के लिये साधारणीकरण जैसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनी धुन में असमीचीन समझ त्याग देते हैं,

जिससे मानव-सुलभ सह-अनुभूति की मान्यता के उपयोग से वञ्चित होकर "विशेष" को साधारण रूप में प्रस्तुत न कर विशेष रूप में ही रखते हैं। छन्द का विधान तो उनके लिये कोई महत्त्व रखता ही नहीं।

संक्षेप में उनकी कविता का सैद्धान्तिक आधार निम्न प्रकार ढूँढा जा सकता है :—

(*i*) प्रयोगवादी पुरातन काव्योपकरणों को अमान्य ठहराकर नवीन की खोज में लगे रहते हैं।

(*ii*) वस्तुगत दृष्टिकोण के कारण यथातथ्य चित्रण का आग्रह करते हैं।

(*iii*) काव्य में से रागात्मकता के सर्वमान्य तत्त्व को हटाकर बुद्धि-तत्त्व को प्रमुखता से प्रतिष्ठित करते हैं।

(*iv*) भाषा और छन्द-विधान में वैयक्तिक प्रयोगों की बहुलता से नवीनता लाने का प्रयत्न करते हैं।

इन अद्‌भुत उपक्रमों के कारण उनकी कविता दुरूह से दुरूहतर होती जाती है। ऐसी अवस्था में हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि प्रयोगवादी कविता सच्चे स्वच्छन्दतावाद से कोसों दूर है। यह एक प्रतिक्रिया की भावना से वादगत आग्रह के पङ्क में फँसी हुई है। स्वाभाविकता का इसमें कुछ भी स्थान नहीं। नवीनता की खोज की धुन में नवीन प्रयोगों को ही उद्देश्य बनाकर छायावादी मान्यताओं की विपरीत दिशा में भागी चली जा रही है। अतः इसमें हमें केवल काव्यगत तत्त्वों का क्रमविपर्ययमात्र दीखता है। योजनानुसार किसी सुसज्जित कमरे की सामग्री को अस्त-व्यस्त रूप में बखेरकर यह कहना कि हमने इसे नये रूप में व्यवस्थित किया है और यह भी एक क्रम है, कुछ जँचता नहीं; केवल तार्किक चमत्कार-सा भासित होता है।

छायावाद : रहस्यवाद

जब किसी साहित्यिक क्षेत्र में कवियों की सामूहिक प्रवृत्ति, चरम सीमाओं का स्पर्श करने लगती है, तब प्रगति के अभिलाषी कवियों के मन में एक प्रकार का विक्षोभ-सा जागृत हो उठता है। अन्त में यह विक्षोभ निर्बाध ऐकान्तिक उत्कटता के कारण असह्य हो जाता है, और ये कवि स्वतन्त्र काव्यधारा को जन्म देने के लिए आगे बढ़ते हैं। इनके मन में स्वभावतः प्रतिक्रिया की भावना होती है जिससे यह नवोत्थित काव्यधारा भी नवीन ऐकान्तिक वाद की दलदल में जा फँसती है। इस क्रम से साहित्य के इतिहास में प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उठने वाली काव्यधाराओं की उत्पत्ति होती रहती है।

प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण

सच्चे काव्यमर्मज्ञ इन धाराओं की अल्पकालिकता से परिचित होते हैं, वे किसी वादग्रस्त धारा का पल्ला नहीं पकड़ते, अपितु स्वच्छन्द काव्य-मार्गों का ही अनुसरण करते हैं। अतः उनके काव्य में सौम्य रुचिरता के दर्शन होते हैं। और वही काव्य स्थायी साहित्य का रूप धारण करता है। साहित्य की गति की स्वस्थता का लक्षण स्वतन्त्र प्रतिभा की प्रेरणा से चलनेवाले इन्हीं कवि-पुङ्गवों के कौशल में लक्षित होता है। तथापि इन्हीं के प्रताप से वादग्रस्त धारा के साथ-साथ काव्य की निर्मल धारा भी बहती रहती है।

उधर कुछ फुटकर लोग अपनी सामान्य बुद्धि के कौशल से नवीन एवं पुरानी काव्यधाराओं में रूढ़ियों को खोजकर काव्य-रचना के सरल फारमूलों का आविष्कार करते रहते हैं, और उनके बल पर कृतियों के

ढेर लगा कागज़ और स्याही के दाम बढ़ाते हैं। इनके घरेलू उपचार से रूढ़िग्रस्त कविता भी जीवित दिखाई देती है। इस प्रकार साहित्य के काव्य-क्षेत्र में वादमूलक, स्वच्छन्द और रूढ़िग्रस्त तीनों प्रकार की धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती हुई चली जाती हैं।

हमारे हिन्दी-साहित्य की गति भी, ऐकान्तिक प्रतिक्रियाओं की प्रेरणाओं द्वारा समय-समय पर उद्भूत होने वाले वादों से, प्रभावित हुई है। प्रतिवर्तनों (Reactions) की लम्बी शृङ्खला में विकास का क्रम भी असन्दिग्ध रूप से पाया ही जाता है; क्योंकि सजीव गति का निश्चित परिणाम 'विकास' ही होता है। द्विवेदी-युग में पुराने ढर्रे की रीति-कालीन कविता की प्रतिक्रिया में खड़ीबोली की बाह्यार्थनिरूपक और इतिवृत्तात्मक कविता का चलन हुआ था। तदनन्तर नई धारा के तृतीय उत्थान के साथ सूक्ष्म स्वानुभूतिनिरूपकता को लेकर चलने वाली छायावादी काव्यधारा का जन्म, विकास और यौवन सामने आया, और अब इसके भावप्रधान वायवीपन से उकताकर भौतिक मानों को प्रश्रय देने वाली प्रगतिवादी धारा बह चली है। इन एक के बाद एक उठने वाली धाराओं की प्रवृत्तियों को यदि आमने-सामने रखा जाय तो हम बड़े आश्चर्य के साथ देखेंगे कि पूर्व धारा की प्रतिक्रिया में उत्तर धारा किस तीव्रता एवं आग्रह के साथ दूर तक गई। निम्न चित्र हमारे कथन की प्रामाणिकता को स्पष्ट कर सकेगा :—

रीतिकालीन काव्य	द्विवेदीयुगीन काव्य	छायावादी काव्य	प्रगतिवादी काव्य
१. शृङ्गारिक विषयों में परिसीमिता ।	१. अनेक विषयस्पर्शी ।	१. परिसीमितविषया ।	१. सुनिश्चितविषया ।
२. दरबार-लालिता ।	२. जन-सम्पर्कवाली ।	२. कवि-सम्प्रदाय में ही अवरुद्धता ।	२. जन-सम्पर्क में आने वाली ।
३. रूढ़िग्रस्ता ।	३. प्राचीन शैलियों व छन्दों में सुसज्जिता ।	३. नई शैलियों व छन्दों में सुसज्जिता ।	३. सर्वथा नई शैलियों में छंदबंधन से मुक्त होकर
	४. इतिवृत्तात्मिका एवं बाह्यार्थनिरूपिका ।	४. भावप्रधाना व स्वानुभूति-निरूपिका ।	४. वस्तुप्रधाना और भौतिक मानों से परीक्षिता ।
५. ब्रजभाषा में ।	५. रुक्ष खड़ीबोली में	५. ललित खड़ीबोली में ।	५. व्यावहारिक बोली में ।
६. सरस-कोमल-कान्त-पदावली-संवलिता ।	६. अपरिमार्जित-शुष्क-खड़्पन से युक्त भाषा में ।	६. सरल-कोमल-कान्त-पदावलीसंवलिता ।	६. परिमार्जित व्यवहारोपयोगी भाषा में ।
		७. अभिव्यञ्जन की नवीन शैलियों से युक्ता ।	७. परिमार्जित नव-नव-शैली-संयुक्ता ।
		८. आदर्शवाद से प्रभाविता	८. यथार्थवादानुगामिनी
		९. वायवीपन व सूक्ष्मता के आग्रह वाली ।	९. स्थूलोन्मुखी ।
		१०. द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में सम्भूता ।	१०. पलायनवाद की प्रतिक्रिया में सम्भूता ।

इस निबन्ध का विषय छायावाद है। हिन्दी में छायावाद के चलन के जो कारण कहे जाते हैं वे प्रतिक्रिया-मूलक हैं। ऊपर के चित्र के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो

छायावादी काव्य भी प्रतिक्रिया रूप में हमारे यहाँ चला

जायगी। द्विवेदी-कालीन कविता अपनी इतिवृत्तात्मकता तथा अपरिमार्जित भाषा के कारण रुक्ष और निष्प्राण थी। इसी की प्रतिक्रिया में छायावाद उठा। सुश्री महादेवी जी वर्मा ने इसी बात को इन शब्दों में स्वीकार किया है—"उसके (छायावाद के) जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्यता का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।" छायावादी काव्य का वेग इतना उग्र था कि उसने भाव, भाषा और शैली में एक-साथ सहसा आमूलचूल शतप्रतिशत क्रान्ति ला दी। ऐसी सर्वतोमुखी क्रान्ति हमारे साहित्य में अश्रुतपूर्व थी। इसके लिए तात्कालिक हिन्दी-संसार तैयार न था; इसी कारण वह उसे बहुत देर में ग्रहण कर सका।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्वितीय उत्थान के अन्त में बंगला तथा अंग्रेज़ी साहित्य से परिचित लोग, तथा व्रजभाषा काव्यमर्मज्ञ भी,

छायावादी प्रवृत्ति के प्रारम्भ के समय हमारे काव्य की स्थिति

समान रूप से खड़ीबोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उड़ान, अभिव्यंजना का चमत्कार तथा शैलीवैचित्र्य की कमी का अनुभव करने लगे थे। इस कमी की पूर्ति की आकांक्षास्वरूप हिन्दी-कविता को सुष्ठुरूप में परिमार्जित करते हुए उसे भावमयी एवं मार्मिक बनाने का काम मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय ने प्रारम्भ कर दिया था। इसे देखकर यह निश्चय से कहा जा सकता था कि हिन्दी-कविता शीघ्र ही नाना विषयस्पर्शी भावभूमियों

पर चलकर कल्पना व संवेदना के योग से नूतन व्यञ्जक शैली में सम्य-क्तया प्रस्फुटित हो सकेगी। शुक्ल जी ने कहा है—"छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की हिन्दी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यञ्जक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यञ्जना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे-धीरे अपने स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था।" परन्तु इधर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की

छायावाद के नये-बनाये मार्ग पर हमारे काव्य की धारा बह चली

पाश्चात्य आध्यात्मिक रहस्यवाद के ढंग की 'गीताञ्जलि' तथा बंगीय भाषा में ईसाई सन्तों के छायाभास* (Phantasmata) और योरुपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित अध्यात्मिक प्रतीक-वाद (Symbolism) की अनुकृति में निर्मित होने वाली वंग भाषा कविताओं को देखकर कुछ लोग उसी तरह चलने के लिए उतावले हो गये। इसके अतिरिक्त उस समय भारतीय जनसमाज की मनोवृत्ति दासत्व की भावना से आक्रान्त थी और बौद्धिक ह्रास की सी अवस्था उपस्थित थी। और बातों की तरह अंग्रेज़ी व योरु-पीय साहित्य भी निर्विवादरूपेण अनुकरणीय माना जाता था। अतः उसकी अन्धी नकल करने की क्षमता से बढ़कर मौलिक नूतनता का और अच्छा प्रमाण क्या दिया जा सकता था? इस प्रकार हमारे अनेक कविजन बंगीय भाषा में प्रचलित नाम—छायावाद—को ही लेकर उसी अनुकरण में कविताएँ करने लगे।

छायावादी काव्यधारा का समय १९१३ से १९३६ तक माना जाता है। यह सम्पूर्ण गीतिकाव्य है। इसका प्रारम्भ 'प्रसाद' के 'आँसू' और

सुमित्रानन्दन पन्त की 'वीणा' से समझना चाहिये।

'छायावाद' शब्द का इतिहास

इस कविता का नाम छायावाद क्यों पड़ा, यह भी विचारणीय है। विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार से इसका उल्लेख करते हैं :—

(*i*) आचार्य शुक्ल के मत से तुरीयावस्था में पहुँचे हुए साधको की आध्यात्मिक अनुभवों को प्रकट करने वाली वाणी के अनुकरण पर योरुप में जो कविता की जाती थी वह 'रहस्य-वाद' के अन्तर्गत समझी जाती थी। यह कविता उक्त रहस्य-मय ज्ञान का रूपकों में आभासमात्र दे पाती थी। अतः यह ज्ञान छाया (Phantasmata) कहाया।

बंगदेशस्थ ब्रह्म-समाज में उक्त वाणी के अनुकरण में जो गीत बने वे 'छायावाद' कहाये। पीछे यह शब्द वहाँ के साहित्यिक क्षेत्र में होता हुआ अपने यहाँ हिन्दी में आया।

(*ii*) कुछ विद्वानों का कथन है कि गीताञ्जलि तथा अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों की कविताओं की नकल में बनने वाली हिन्दी कवि-ताओं में उनकी छाया को देखकर किसी ने व्यंग्यरूप से इसे छायावाद कहा जो बाद को वास्तविक हो गया।

(*iii*) बाद के कुछ विद्वान् व्याख्याताओं ने उस कविता को छायावादी कहा जिसमें कवि प्रकृति में अपनी ही सप्राण छाया देखता हुआ चैतन्यारोपण कर भावाभिव्यंजन करता है।

अस्तु ! उपर्युक्त बातों से इतना तो सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि प्रारम्भ में चलने वाले इन कवियों के सामने छायावाद का कोई स्पष्ट रूप न था। छायावाद नाम के

छायावादी काव्यधारा का विकासक्रम

अन्तर्गत अटपटी रहस्यात्मकता, अभिव्यंजन के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की

विशृंखलता, मधुमयी कल्पना और चित्रमयी भाषा को ही समझा जाता था। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति चित्रमयी भाषा में अनेकविध वासनात्मक प्रेमोद्गार प्रकट करने मात्र को ही काव्य समझा जाने लगा। प्रारम्भ की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य कर आचार्य श्यामसुन्दरदास ने लिखा—"यह मान लेना कि जो सुगमता से दूसरों की समझ में न आ सके अथवा जिसमें विभिन्न या विपरीत भावों के द्योतक शब्दों का साहचर्य स्थापित किया जाय ऐसी कविता प्रतिभा की एकमात्र द्योतक है, कहां तक अनुचित या असंगत है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।" बाद को ज्यों-ज्यों छायावादी कवि अपनी शैली और भावुकता में प्रौढ़ होते गये त्यों-त्यों इस धारा में रुचिरता आती गई और प्रसाद, पन्त, निराला के उत्कृष्ट काव्यों के दर्शन हुए; जिसके कारण यह हिन्दी-साहित्य में सशक्त काव्यधारा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस धारा के विकासक्रम को निम्न प्रकार रखा जा सकता है:—

(i) प्रारम्भिकावस्था—अधिकांश कविता अस्पष्ट और बंगीय एवं अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य की भद्दी नकल के रूप में होने लगी। जो कविता समझ में न आवे वही छायावादी समझी जाने लगी। जनता एवं समालोचकों में इस प्रकार की कविता की तीव्र आलोचना की गई।

(ii) प्रौढ़ावस्था—सिद्ध और सच्चे कवियों की निरन्तर लगन के कारण इसके स्वरूप का परिचय जनता को होने लगा और इस शैली की नवीनता जाती रही।

(iii) चरमोन्नति—अन्त में वह समय भी आया जब इस काव्य-प्रणाली का एकछत्र राज्य हो गया। 'कामायनी' जैसे महाकाव्य तथा 'पथिक' 'ग्रन्थि' 'निशीथ' और

'राम की शक्ति पूजा' जैसे कथाकाव्य और प्रभूत मात्रा में इतर मुक्तक-काव्य भी सामने आये।

आधुनिक हिन्दी-कविता और छायावाद

छायावाद का अंग्रेजी पर्याय कोई नहीं है। रहस्यवाद को अँग्रेजी में Mysticism कहते हैं। छायावाद आधुनिक काव्य (जो १९१७ के बाद की गीतात्मक कविता के रूप में सामने आता है) की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इसकी अनेक अवान्तर प्रवृत्तियाँ भी हैं: रहस्यवाद उनमें से एक है। आधुनिक हिन्दी-कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों को हम निम्न प्रकार रख सकते हैं:—
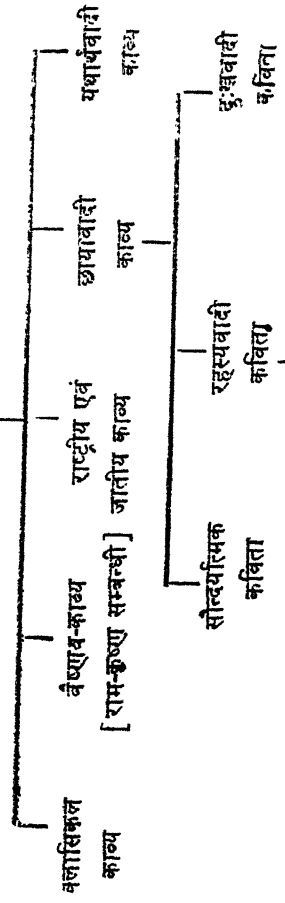
(i) सौन्दर्यात्मक कविताएँ (Aesthetic)

(ii) कबीर का रहस्यवाद जिसमें सूफी प्रेमभावना का भी पुट रहता है, ऐसी कविताएँ।

(iii) प्रकृतिपरक रहस्यवाद की कविताएँ।

(iv) प्रेमसम्बन्धी रहस्यवाद की कविताएँ।

अब हमें देखना है कि आधुनिक काव्य के अन्तर्गत "छायावाद" से क्या तात्पर्य है ? यद्यपि अनेक विद्वान् छायावाद की एक विशिष्ट भावपद्धति को मानकर उसे स्वतन्त्र काव्य-धारा के रूप में ग्रहण करते हैं, तो भी आचार्य शुक्ल उसे एक काव्य-शैली मात्र स्वीकार करते हैं; और 'रहस्यवाद' उनके मत में छायावाद का विषयगत पक्ष है। इस हिसाब से छायावादी शैली में 'रहस्यवाद' से बाहर के विषय भी आ जाते हैं। यहाँ पर हम इस गहन विवाद में न पड़कर केवल 'छायावाद' शब्द से गृहीत होने वाले तथ्य का विश्लेषण करते हैं। इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। प्रथमतः वह काव्य वस्तु को प्रकट करता है और दूसरे में शैली को। इस प्रकार इसके निम्न दो अर्थ हुए:—

छायावाद का स्वरूप और अर्थ

(i) छायावाद [वस्तुपरक रहस्यवादी कविता]—वह कविता जिसमें कवि अज्ञात और असीम प्रियतम को आलम्बन मानकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की विविध प्रकार से व्यंजना करता है।

(ii) छायावाद [शैलीपरक प्रतीक पद्धति पर चलने वाली कविता]—वह काव्यशैली जिसमें प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन होता है। अर्थात् —

[क] प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की छाया का कथन किया जाता है

[ख] परन्तु यह अप्रस्तुत की छाया ऐसी होती है जो प्रस्तुत की व्यंञ्जना करने में समर्थ होती है।

यहाँ पर वस्तुपरक रहस्यवाद की छायावादी और प्रतीक पद्धति पर चलने वाली छायावादी कविताओं का क्रमशः उदाहरण दिया जाता है:—

(१) रहस्यवाद: —

[क] मैं मतवाली इधर-उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।

× × ×

उतरो अब पलकों में पाहुन

× ×

वीणा भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

× × ×

दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

× × ×

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधु बयार।

—महादेवी।

[ख] रूपसि तेरा नर्तन सुन्दर
आलोक तिमिर सित-असित चीर,
सागर गर्जन रुनझुन मञ्जीर।
उड़ता झञ्झा में अलक जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि-स्वर।
रवि शशि तेरे अवतंस लोल,
सीमन्त जटित तारक अमोल।
चपला विभ्रम स्मित इन्द्रधनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर!

—महादेवी।

[ग] मौन रही हार—
प्रिय पथ पर चलती,
सब कहते शृङ्गार!
कण-कण कर कङ्कण, प्रिय,

किण्-किण् रव किङ्किणी,
रणन-रणन नूपुर, उर लाज,
लौट रङ्किणी ;
और मुखर पायल स्वर करें बार बार ;
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार !
शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ !
उन चरणों को छोड़, और
शरण कहाँ पाऊँ ?—
बजे सजे उर के इस सुर के सब-तार।
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार। —निराला।

(२) छायावाद:—

उठ-उठ लघु-लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगड़ाई सी
मलयानिल की परछाईं सी
इस सूने तट पर छिटक छहर
शीतल कोमल चिर कम्पन सी
दुर्ललित हठीले बचपन सी
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर-ठहर !
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पदचिह्न बना जाती,
सिकता में रेखाएँ उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर।
तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में

रहस्यानुभूति तथा तत्सम्बन्धी साहित्य की कमी नहीं है तो भी वर्तमान में यह शब्द और कविता अपने रूप में एक विशिष्ट परिभाषा को लिये हुए है। प्राचीन सिद्धों, नाथों और सन्तों की वाणी 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' में गिनी जायेगी, क्योंकि वह तत्तत् सम्प्रदायों की साधना पर आश्रित होकर उनकी विशिष्ट भावनाओं, मान्यताओं और परिभाषाओं को लिए हुये है। रहस्यवादी कविता, ज्ञान और कर्मकाण्ड सभी का मूलाधार परमसत्ता-सम्बन्धी रहस्यात्मक अनुभव है। यदि इस अनुभव की व्यञ्जना, लोकसामान्य सहज्ञानुभूति के आधार पर (चाहे वहाँ उदात्त आध्यात्मिक अनुभूति न भी हो) वर्तमान छायावादी शैली से की जायेगी तो वह रहस्यवादी कविता के अन्तर्गत समझनी चाहिये।

इसके विपरीत महादेवी जी रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष न मानकर अनुभूति के उत्तर सोपान के रूप में स्वीकार करती हैं। अर्थात् छायावाद रहस्यवाद का परस्पर में अधरोत्तरसोपान सम्बन्ध है। उनकी यह भी मान्यता है कि रहस्यवादी काव्य की अविच्छिन्न धारा हमारे वाङ्मय में वेदों और उपनिषदों से लेकर चली आ रही है। उनके तत्सम्बन्धी शब्द निम्न प्रकार हैं:—

"आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"

कहा यह जाता है कि व्यक्तित्व की तीन अवस्थाएं हो सकती हैं। प्रथमावस्था में व्यक्ति स्वप्राण की साधना में रत होते हैं। द्वितीय में

छायावादी कवियों को सहानुभूति का आधार

समस्त जगत् में स्वप्राण को देखने वाले आते हैं और तीसरी अवस्था में महाप्राण के विस्तार की अनुभूति को स्व और चराचर में पाने वाले हैं। पिछली दो अवस्थाएँ सर्वात्मवाद की दार्शनिक भूमि पर अवस्थित हैं और बुद्धि द्वारा सहज-रूपेण ग्राह्य हैं; पर आध्यात्मिक साधना द्वारा तुरीयावस्था वाले साधकों के लिए अनुभूतिजन्य भी है। इसके अतिरिक्त सभी साधक यह भी मानते हैं कि परमसत्ता का साक्षात् अनुभव बाह्य जगत् से ऐन्द्रिक वृत्तियों को समेटने पर ही होता है। ऐसी साधना सिद्ध सन्तों में तो देखी जाती है, छायावादी आधुनिक कवियों में नहीं। अतः यह मानना पड़ता है कि आधुनिक कवियों की रहस्यात्मक प्रेरणा सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से उद्भूत नहीं। वह अभिव्यक्ति का प्रकार है जिसका आधार अवचेतन में स्थित कुण्ठाओं को बताया गया है। यह तथ्य प्रारम्भिक अवस्थाओं में और भी दृढ़ता के साथ लागू होता है। आचार्य शुक्ल ने इस मिथ्या अनुभूति को कल्पित बताते हुये इसकी सचाई में सन्देह प्रकट किया है और तीव्र समालोचना की है—'काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तु-योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात् स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो हृदय से उसका सम्बन्ध क्या रहेगा ? भावानुभूति भी यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती तो सचाई (Sincerity) कहाँ रहेगी ?"

शुक्ल जी की यह भी मान्यता है कि रहस्यवादी कविता का चलन सर्वथा आधुनिक है। तथाकथित प्राचीन रहस्यवादी कविता रहस्यवाद के वर्तमान लक्षण के अन्तर्गत नहीं आती।

प्राचीन तथा अर्वाचीन रहस्यवादी कविता में भेद

कबीर आदि की रहस्यवादी उक्तियों में जो तल्लीनता हम पाते हैं वह आधुनिक कवियों की रहस्यमयी वाणी में नहीं। इसका

प्रधान कारण अस्पष्टता है। और यह अस्पष्टता इसलिए और भी स्वाभाविक है कि आधुनिक रहस्यवादी कवि के पास अनुभूति की गहराई नहीं; उसका प्रयास बौद्धिक है। जायसी और कबीर की कविता के पृष्ठ में अनुभूति है; उनका काव्य हृदय की रसधारा से सिक्त होने के कारण हमें आनन्दविभोर कर देता है। एक-दो उदाहरण लीजिये:—

नैहरवा हमकों नहिं भावै
साईं की नगरी परम सुन्दर, जहाँ कोई जाइ न आवै।
चाँद सुरुज पवन न पानी, को सन्देश पहुँचावै।
दरद यह साँई को सुनावै —कबीर॥

चकई री! चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निसिदिन राम-राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग।
—सूरदास।

मैं गिरधर रंग राती, सैयाँ मैं० ॥ टेक ॥
पचरंग चोला पहर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती।
—मीरा।

इस प्रकार इतना तो असन्दिग्धरूपेण स्पष्ट है ही कि आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी जो कविता हमारे यहाँ सदा से होती चली आई है उसमें और आधुनिक रहस्यवादी कविता में भारी अन्तर है। ऐसा होने पर रहस्यवादी कविता के दो भेद करने पड़ेंगे:—

(i) प्राचीन रहस्यवादी काव्य—

[क] सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित था।
[ख] वासनात्मक प्रेमतत्त्व उसमें शामिल नहीं था।
[ग] साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और मान्यताओं की पुट रहती थी।

(आ) आधुनिक रहस्यवादी कविता:—

[क] विषय-वस्तु परमतत्त्व से सम्बन्धित होती है पर प्रेमतत्त्व की गहरी पुट भी होती है।

[ख] वासना की झलक रहती है।

[ग] कल्पनात्मक अनुभूति व मन की छलना पर आधारित है।

[घ] पाश्चात्य रहस्यवादी काव्य-परम्परा से प्रभावित रहती है।

रहस्यवादी काव्य का अवस्थाओं के आधार पर विभाजन

रहस्यवादी कविताओं का विभाजन भी किया जाता है। रहस्य-वादियों के मन में रहस्यानुभूति आत्मा की अन्तर्हित प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति की तीव्रता के आधार पर जिज्ञासु या कवि की मनःस्थिति बदलती रह सकती है। विविध विश्व की लीलामय गतिविधियों को देखकर कभी उसके मन में जिज्ञासा पैदा होती है। कभी-कभी उसकी आत्मा में उस मूलशक्ति से मिलने की अदम्य लालसा जागृत होती है और उसे अपने प्रियतम से एकाकार होने की सुखद अनुभूति होती है। इन्हीं बातों के आधार पर उक्त कविताओं का विषय-विभाजन निम्न प्रकार सम्भव है:—

१. परमसत्ता के सम्बन्ध में जिज्ञासामयी अवस्था का अभि-व्यञ्जन करने वाले गीत:—

[क] सजनि कौन तम में परिचित सा
सुधि सा छाया सा आता?
सूने में सस्मित चितवन से,
जीवन दीप जला जाता!—महादेवी

[ख] कनक से दिन मोती सी रात,
सुनहली सांझ गुलाबी प्रात।

मिटाता रंगता बारम्बार,
कौन जग का वह चित्राधार ?—महादेवी ।

[ग] तेरे घर के द्वार बहुत हैं किसमे होकर आऊँ मैं ।
सब द्वारों पर भीड़ खड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ।।
—मैथिलीशरण ।

[घ] केशव कहि न जाय का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मन-हि-मन रहिये ।
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
—तुलसीदास ।

[ङ] कैसी बजी बीन ?
हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी
लीन सुर सलिल में मैं बन रही मीन ।—निराला ।

२. मिलन की आकांक्षा जागृत होने पर उस परमसत्ता से मिलनाकांक्षा का व्यञ्जित करने वाले गीत:—

[क] हाँ सखि आओ बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान !

[ख] फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी
देख लूँ उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युग
कल्प उसका छोर क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर
आज मेरे श्वास घेरे ?

[ग] वे दिन कब आवेंगे माइ
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अङ्ग लगाइ।
हौं जानूँ जू हिलि-मिलि खेलूँ तन-मन प्रान लगाइ॥
या कामना करो परिपूरन समरथ हो रामराइ॥ —कबीर।

३. विरह-वेदना अनुभव होने लगती है। इस विरहानुभूति की व्यञ्जना करनेवाले गीत:—

[क] बालम आओ हमरे गेहरे! तुम बिन दुखिया देह रे!
सब कोई कहे तुम्हारी नारी मोको यह सन्देह रे!
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसे नेह रे॥
अन्न न भावै नींद न आवै गृह बन धरे न धीर रे॥
—कबीर।

[ख] तुम बिन हो जाता जीवन का
सारा काव्य असार।
उस बिन मेरा दुःख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी॥—महादेवी

[ग] ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महामिलन के॥—प्रसाद।

४. प्रियतम से मिलन की कल्पना कर ली जाती है। इस संयोगावस्था के सुख के अभिव्यञ्जक गीत:—

[क] नयनन की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै पिय को लीन्ह बिठाय॥—कबीर

[ख] मोतिया बरसै तोरे देशवा दिनराती
मुरली शब्द सुनि मन आनन्द भयो, जोति बरै दिनराती।
—कबीर।

[ग] फैलते हैं सान्ध्य नभ में,
भाव मेरे ही रँगीले

तिमिर की दीपावलि है
रोम मेरे पुलक गीले —महादेवी।

[ब] सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।
—तुलसी।

रहस्यवादी काव्य की कुछ अपनी रूढियाँ भी जड़ पकड़ गई हैं; वे हमें निम्न प्रकार मिलेंगी:—

रहस्य वादी काव्य की रूढ़ियाँ

(*i*) वासनात्मक प्रणयोद्गार
(*ii*) वेदना विवृति।
(*iii*) सौन्दर्य संघटन।
(*iv*) मधुचर्यातिरेक।
(*v*) अतृप्तिव्यञ्जना।
(*vi*) अवसाद, विषाद और नैराश्य की भावना।

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद को लक्षणों के अन्तर्गत बाँधने की चेष्टा की है। उसका स्वरूप हृदयङ्गम करने के लिए ये लक्षण सहायक हैं। उन्हें हम यहाँ देते हैं :—

रहस्यवाद के लक्षण

१. **आचार्य श्यामसुन्दरदास**—छायावाद और रहस्यवाद वस्तुतः एक दूसरे के पर्याय हैं और काव्य के विषय मे सम्बन्ध रखते हैं, शैली या भाषा से नहीं। अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिसमें भाव प्रकट किए जाते हैं वही कविता रहस्यवाद की कही जा सकती है।

२. व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति का अभिव्यञ्जन रहस्यवाद है।

३. रहस्यवाद कविता की शैलीविशिष्ट है, जिसमें इस त्रिविध चराचर के मूल में विद्यमान कारणभूत रहस्यमयी चेतनसत्ता पर मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके प्रति अनुराग जनित आत्मसमर्पण की भावना का अभिव्यञ्जन किया जाता है।

४. **प्रो० नगेन्द्र**—बहिरंग जीवन में सिमटकर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएं जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्य में आ जाना सम्भव ही था और वे आईं। उसके चिन्तनस्वरूप रहस्यवादी कविता उद्भूत हुई।

५. **गंगाप्रसाद पाण्डेय**—"सारांशतः रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है, जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक "महा अस्तित्व" के साथ एकात्मता का अनुभव करने लगता है।"

६. **रामकुमार वर्मा**—रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर नहीं रह जाता।

७. **सुश्रीमहादेवी वर्मा**—"जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया।"

यहाँ तक हमने छायावाद के विषयगत अर्थ रहस्यवाद का परिचय कराया। अब उसके शैली सम्बन्धी अर्थ का विवेचन करते हैं। शैलीपरक या प्रतीक-पद्धति पर की गई छायावादी कविता की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं:—

[१] कला पक्षीय प्रवृत्तियाँ:—

(क) प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यन्जना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान रहता है। अर्थात् अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय ग्रहण किया जाता है। पन्त ने निम्न कविता में 'बीज' के प्रतीक द्वारा—'जीवित वन्धनों को सहन नहीं कर सकता; अत: ऐ मानव उठ!—इस तथ्य का व्यन्जन किया है—

मिट्टी का गहरा अन्धकार,
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया, मिट्टी न बना,
कोदों सरसों से क्षुद्र चीज़!
× × ×
बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,—
पाने को है निज सत्त्व,—मुक्ति!
जड़ निद्रा से जग कर, चेतन!—पन्त

(ख) वाचक पदों के स्थान पर लाक्षणिक पदों की प्रचुरता रहती है। ये लाक्षणिक पद अधिकतर आभ्यंतर प्रभावसाम्य के आधार पर रखे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप: —

(i) यौवनकाल के स्थान पर ऊषा।
प्रिया „ „ „ मुकुल।
मानसिक क्षोभ „ „ „ झंझा।
भाव-तरंग „ „ „ झंकार।

विषाद के स्थान पर छाया ।

भाव-प्रवाह ,, ,, संगीत, इत्यादि ।

(ii) उठ उठ री लघु-लघु लोल लहर !

करुणा की नव अंगड़ाई सी
मलयानिल की परछाईं सी
इस सूने तट पर छिटक छहर

× × ×

तू भूल न री पंकज बन में
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक
आ चूम पुलिन के विरस अधर ।

इस छायावादी कविता में एकाकी जीवन की कसक-कसक की व्यंजना है । कवि मधुमय स्मृतियों की लहरों का आह्वान कर जीवन में सरसता का संचार करना चाहता है । इसमें लाक्षणिक प्रयोग निम्न प्रकार है:—

आनन्दमयी स्मृतिओं के स्थान पर "लहर" ।

एकाकी खिन्न जीवन ,, ,, "सूना तट" ।

अप्राप्त हास विलास और सम्पन्नता के स्थान पर "पंकज वन" ।

(ग) साम्य-भावना के ही आधार पर उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों का प्रयोग बहुलता से किया जाता है । यह साम्य-भावना रूप व आकार के आधार पर न होकर प्रभाव-साम्य के आधार पर रखी जाती है । आचार्य शुक्ल ने—"आभ्यन्तर भावसाम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावादी काव्य-शैली की असली विशेषता—" बताया है । इसके प्रचुर प्रयोग के कारण ही इस काव्य में दुरूहता बढ़ गई है ।

(घ) मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमानों का प्रयोग भी विशेष रूप से

प्रचलित है। छायावाद की वायवीय-प्रवृत्ति का यह परिणाम है। उदाहरण के लिए: —

(*i*) बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल। —कामायनी।

(*ii*) मन्द पवन के झोंकों से
लहराते काले बाल,
कवियों के मानस की मृदुल,
कल्पना के-से जाल। —निराला।

(*iii*) थी अनन्त की गोद सदृश जो
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय। —कामायनी।

(*iv*) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु को छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है। —निराला।

(ङ) प्रभाव-साम्य के आधार पर चित्रमय विशेषणों का भी प्रयोग किया जाता है। ऐसे चित्रमय विशेषण थोड़े में ही मार्मिक चित्र उपस्थित कर देते हैं:—

(*i*) तारे के लिए स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय।
निर्झर „ „ मूक गिरिवर का मुखरित गान।
मारुत „ „ नभ की निःसीम हिलोर।
"बापू" „ अस्थिशेष ! मांसहीन !

(*ii*) एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब।
और जड़ता की जीवन-राशि,
सफलता का संकलित विलम्ब। —कामायनी

यहाँ पर मनु अपना परिचय प्रथम मिलन के अवसर पर श्रद्धा को दे रहे हैं।

(च) मानवीकरणप्रधान लाक्षणिक प्रयोगों के लिये भी छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहता है:—

(i) धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी-बन्धन
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अविरम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकिती आ वसन्त रजनी ! —महादेवी।

(ii) पवन पी रहा था शब्दों को
निर्जनता की उखड़ी साँस

× × × ×

ज्यों विराट् वाड़व ज्वालाएँ
खण्ड खण्ड हो रोती थीं। —कामायनी।

[२] भावपक्षीय प्रवृत्तियाँ:—

(क) स्वानुभूतिनिरूपकता।

(ख) सौन्दर्योपासना एवं शृंगारिकता

(ग) वायवीयपन (सूक्ष्मता की ओर अग्रसर रहना)।

(घ) कल्पना की प्रधानता।

छायावाद की मूल प्रवृत्ति और उसका कारण

यह बात कही गई है कि सन् १९१३ से छायावादी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। हमारे देश की तात्कालिक राजनैतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की छानबीन करने पर पता चलेगा कि संवेदनशील कवि को अन्तर्मुख हो जाने के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग शेष ही न था। नव-चैतन्य का स्पन्दन प्रारम्भ

हो चुका था, चारों ओर जागृति के लक्षण मुँह उठा रहे थे; यद्यपि उसकी स्पष्ट दिशा के विषय में सर्वथा धुँधलापन था। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेज़ों की विजय ने भारतीय समाज के मन में अँग्रेज़ी सत्ता की अविचल स्थिति और अजेयता की छाप को दृढ़ता से बिठा दिया। अतः राजनैतिक क्षेत्र में उद्‌बुद्ध और कर्तृत्वाकांक्षी युवक-मण्डल को सामने आ सकने का अवकाश ही न था। इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में भी सुधारक मनोवृत्ति की दृढ़ नैतिकता का एकच्छत्र सर्वसम्मत राज्य था। अतः यहाँ भी स्वच्छन्दता के लिए कोई प्रोत्साहन व गुंजाइश न थी। धीरे-धीरे युग के विकास के साथ असन्तोष और विद्रोह की स्वच्छन्द भावनाएँ नवचैतन्यत्व के वेश में परिस्थिति की जटिलताओं के कारण अन्तर्मुखी होकर अवचेतन में बद्धमूल होती रहीं, जहाँ कल्पनात्मक सूक्ष्म जाल का ताना-बाना फैलाती रहीं। ये ही भावनाएँ वासनात्मक कुण्ठाएँ कही गईं और छायावादी कहे जाने वाले चित्रों के रूप में प्रकट हुईं। इस प्रकार अन्तर्मुखता छायावादी विभिन्न गोचर प्रवृत्तियों की मूल प्रवृत्ति बन सकी। इसी एक प्रवृत्ति के प्रकाश में अन्य सभी उपर्युक्त प्रवृत्तियों की व्याख्या की जा सकती है। कवियों की रहस्यानुभूति का कारण भी यही प्रवृत्ति माननी पड़ती है क्योंकि अन्तर्मुखी चिन्तन का स्वाभाविक परिणाम अनादि एवं शाश्वत प्रश्नों—जीवन-मरण, आत्मा-परमात्मा और गुह्यत्वादि—की मीमांसा है। यद्यपि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि छायावादी रहस्योक्तियाँ आध्यात्मिक साधनाजन्य न होकर भावना, चिन्तन और मानसिक छलना पर स्थित हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि छायावाद रहस्यवाद दोनों की मूलप्रवत्ति अन्तर्मुखता है; जिसके कारणों को तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों में खोजा जा सकता है।

छायावाद के जो लक्षण विभिन्न विद्वानों ने किये हैं वे उसके स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले हैं: अतः उनका संग्रह यहाँ पर करना उचित है। इनके अध्ययन से छायावाद के प्रति अनेक दृष्टिकोणों का भी बोध हो सकेगा।

छायावाद के विभिन्न लक्षण

१. प्रकृति में चेतना का अनुभव कर उसमें आत्मा की अनुभूति करना 'छायावाद' कहाता है।

२. चराचर से एकात्मभाव सम्बन्ध स्थापित होने की अवस्था में हमारे हृदय की जो रागिनी का स्वर है वह छायावाद है।

३. **श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय**—"विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उनका आरोप करना ही छायावाद है।"

४. **श्री जैनेन्द्रकुमार**—"छायावाद में अभाव को अनुभूति ने अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए मानों एक Cult (दृष्टि) ही हो गया। आँसू मानों छिपाने की चीज़ नहीं, दिखाने की वस्तु हो चला। व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना सँजोयी जाकर बल बनती, वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छायामात्र रह गई।"

५. **डा० नगेन्द्र**—"आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्याभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई।"

६. **सुश्री महादेवी वर्मा**—"छायावाद नेमनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती है।"

कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि छायावादी काव्य का मौलिक तत्त्व

प्रकृति पर चैतन्यारोपण है। उनकी दृष्टि से, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, "व्यक्तित्व की तीन अवस्थाएँ होती है। स्वप्राण में रत साधारण कोटि के ससारी जीव प्रथम प्रकार के हैं। जिन में संवेदनशीलता का आधिक्य है, वे प्रकृति को भी अपनी तरह सप्राण अनुभव करते हैं। भावना की इस मनोरम भूमि पर अवतरित होकर जो राग गाया जाता है वही छायावाद हैं। तीसरी अवस्था चराचर और स्व को परम ब्रह्म की परम सत्ता में अधिष्ठित पाने की हैं। सिद्ध पुरुष इस अवस्था को साधना द्वारा प्राप्त करते हैं और तुरीयावस्था (ज्ञान दशा) में वे इसी में निमग्न रहते हैं। कवि इस अवस्था को संवेदनशीलता के कारण ग्रहण करता है। इस कवि की जो वाणी होगी वह रहस्यवादी कविता के रूप में कही जायेगी।"

छायावाद के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की मान्यताएँ

उक्त मान्यता में प्रथम दोष तो यह है कि छायावादी काव्य को प्रकृति परक चैतन्यारोपण के आधार पर संकुचित कर दिया गया है। यह बात ठीक है कि छायावाद में सुन्दर-सुन्दर प्रकृतिचित्र प्रचुर मात्रा में है; पर छायावाद इतना ही है, सो नहीं। राष्ट्रीय गीत भी छायावाद में हैं। माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' के गीतों को इस प्रसंग में देखा जा सकता है। प्रसाद जी का एक छायावादी गीत जो जीवन-संग्राम में कूदने के लिए प्रेरणा देता है; देखिये—

> **अब जागो जीवन के प्रभात !**
> **रजनी की लाज समेटो तो**
> **अरुणाञ्चल में चल रहो बात**
> **जागो अब जीवन के प्रभात। —प्रसाद।**

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि छायावादी कवि का प्रकृति विषयक दृष्टिकोण सर्वात्मवादिता के आध्यात्मिक चिन्तन पर आश्रित

नहीं है। अतः उसके दृष्टिकोण को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न करना ठीक नहीं। ऐसा करना आत्मवंचना होगी।

डा० नगेन्द्र का मत इससे आगे है। वे विशेष युग की राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से अन्तर्मुख होने वाले कवियों की वाणी को छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत मानते हैं। उनके कथनानुसार छायावाद और रहस्यवाद दोनों की मूल प्रवृत्ति अन्तर्मुखता है। इस विशेष प्रवृत्ति के कारण ही उसने एक विशिष्ट प्रकार की शैली को ग्रहण किया है। अतः वह केवल शैलीमात्र नहीं अपितु सच्ची काव्यधारा है, जो एक विशेष भावपद्धति पर अवस्थित हैं। सारांश यह कि छायावादी प्रवृत्ति का अपना एक आधार, एक दर्शन भी है, इसमें अनेकविध भावनाओं का मेल हुआ है; जिसके परिणामस्वरूप छायावादी कवि एक विशेष प्रकार के वातावरण को लेकर अपनी ही शैली में चलता है। सुश्री महादेवी जी ने भी इसी मान्यता को अपनी गम्भीर शैली में निम्न प्रकार पुष्ट किया है—"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनो के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित करदी जो प्रकृतिवाद, हृदय-वाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।" अर्थात् देवी जी ने हमें बताया कि छायावादी काव्य-सृष्टि के मूल तत्त्व निम्न हैं:—

i दार्शनिक ब्रह्मवाद।

ii बुद्धि द्वारा जीवन की अखण्डता का भावन।

iii हृदय द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य सत्तानुभूति :

iv स्वानुभूत सुख-दुःख।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने आचार्य शुक्ल के मन्तव्य से विपरीत छायावाद को एक विशिष्ट काव्य-शैली मात्र न मानकर सुनिश्चित भावपद्धति वाली काव्यधारा स्वीकार किया है। अर्थात् उसकी अपनी एक भावभूमि है। परन्तु देखने में यह आ रहा है कि भूतपूर्व छायावादी कवि जो अब प्रगतिवाद के भी उन्नायक हो रहे हैं, प्रगतिवाद की कविताओं को भी छायावादी शैली की छाप से अंकित करते चले जा रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि छायावाद की उक्त शैली छायावाद की प्रतिक्रिया में उठने वाली काव्यधारा के भावाभिव्यंजन में भी प्रयुक्त की जा सकती है। वह केवल छायावादी वातावरणविशेष के चित्रांकन में ही समर्थ हो, सो नहीं। उसका इतर भावपद्धतियों में भी सफल प्रयोग देखने में आता है। अतः शुक्ल जी की मान्यता ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वस्तुतस्तु छायावादी भावपद्धति को मान्य ठहराकर उसकी विशिष्ट शैली की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है।

आचार्य शुक्ल छायावाद को नवीन युग में प्रवर्तित एक काव्य-शैली मानते हैं, जिसकी अपनी विशेषताएँ हैं। और यह काव्य-शैली द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुई थी। छायावादी शैली में परमसत्ता के प्रति जो उद्गार हैं वे रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत समझने चाहियें। शुक्ल जी का दृष्टिकोण वस्तुवादी था। वे काव्य को जगत् और जीवन से सम्बन्धित मानते थे। इस जगत्, जीवन में परमसत्ता की महत्ता का अनुभव कर जो कवि छायावादी शैली में प्रेमोद्गार की व्यंजना करता है वह सच्चा रहस्य-वादी है। सिद्ध सन्तों की नकल पर अटपटी वाणी में मिथ्या अनुभूतियों की कल्पना के आधार पर काव्य-रचना करना मार्मिक नहीं; वाग्विलास भले ही हो।

शुक्ल जी इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि रहस्यवाद हमारे साहित्य में पहिले से चली आ रही एक धारा है। उनके मत में वेदों और उपनिषदों तक का रहस्यवाद साम्प्रदायिक या दार्शनिक है; जो उन उन विशिष्ट सम्प्रदायों के साधकों का है और अपनी धार्मिक साम्प्रदायिक परम्पराओं से सन्निविष्ट है। व्यापक मानवानुभूतियों पर आश्रित नहीं; अतः काव्य के अन्तर्गत नहीं। हमारे काव्य में परमसत्ता के प्रति लौकिक वासनामय विरह-मिलन के प्रेमगीत कब किसने गाये ?

विषय की दृष्टि से इन गीतों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है:—

[१] जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत :—

(i) सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !
किसको त्यागूँ किसको माँगूं
है एक मुझे मधुमय, विषयम; —महादेवी

(ii) तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्वल औ कोमल
तप रे विधुर विधुर मन ! —पन्त।

(iii) देख चुका जो जो आये थे, चले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब भले गये,
च भर की भाषा में
नव नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव-से कोमल शाखा में,
आये थे जो निष्ठुर कर से
मले गये !

मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गये ! —निराला

]२] आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत :—

(i) वे स्मृति बनकर मानस में खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी निष्ठुरता को जिससे मैं भूल न जाऊँ।
—महादेवी।

(ii) मौन रही हार,
प्रिय पथ पर चलती
सब कहते शृंगार !
कण-कण कर कङ्कण, प्रिय
किण्-किण् रव की किङ्किणी,
रणन रणन नूपुर, उर लाज,
लौट रङ्किणी,
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार,
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार !
—निराला

[३] प्रकृति सम्बन्धी गीत :—

(i) बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अञ्चल डोल रहा
लो यह लतिका भर लाई
मधु-मुकुल नवल-रस गागरी।—प्रसाद।

(ii) दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है

वह सन्ध्या-सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे !
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु ज़रा गम्भीर—नहीं—नहीं है उनमें हास विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक —निराला

(iii) धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !
तारक-मय नव वेणी-बन्धन
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मि वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसन्त रजनी।
—महादेवी वर्मा

[४] लौकिक प्रेमगीत :—

(i) कल्पना के कानन की रानी !
आओ, आओ मृदु-मृदु; मेरे
मानस की कुसुमित वाणी।
सिहर उठें पल्लव के दल; नव अंग,
बहे सुप्त परिमल की मृदुल तरंग;
—निराला।

(ii) प्रिये, प्राणों की प्राण !
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की-सी बाण,
बाल-रति सी अनुपम, असमान—
न जाने कौन, कहाँ अनजान,
प्रिये प्राणों की प्राण ! —पन्त।

छायावाद की कृपा से हमारे काव्य में भाव, भाषा, छन्द और शैली में भारी परिष्कार हुआ है। हमारी काव्य-धारा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभिमुख हो बहीं। इसी काव्य ने हमारे काव्य को संकुचित साम्प्रदायिक भावभूमियों से ऊपर लाकर प्रकृति, विश्व और मानवता के सुविस्तृत प्राङ्गण में ला खड़ा किया। उसका कर्तृत्व निम्न प्रकार है :—

छायावाद का कर्तृत्व

(i) छायावाद ने मलिन वासनात्मक सौन्दर्य को हटाकर शुद्ध सुरुचि-सम्पन्न सूक्ष्म व व्यापक सौन्दर्य का उद्घाटन किया।

(ii) छायावाद ने बुद्धिवाद के स्थान पर सुकोमल भावुकता को प्रश्रय दिया।

(iii) भाषा की अभिव्यञ्जन-शक्ति को परिष्कृत और उच्च बनाया।

(iv) भाषा की रुक्षता को दूरकर कोमलकान्त पदावली से संयुक्त किया।

तात्विक दृष्टि से देखने पर यह बात स्पष्ट है कि छायावाद एक उत्कृष्ट काव्यमय शैली है, जिसने अपनी विशेषताओं के कारण हमारे साहित्य में युगान्तर पैदा किया। इसने अपनी मोहकता से हमारे काव्य का सर्वांग कायाकल्प कर डाला। यह इतनी तीव्रता एवं भव्यता से सामने आया, विकसित हुआ और पूर्णता को पहुँचा कि सामाजिक समूह चमत्कृत रह गया। प्रारम्भिक अस्पष्टता के बाद सच्चे कवियों की लगन के कारण वह समय भी आया जब विरोधी आलोचक भी इस शैली के पथिक बने। एक बार इसकी दिगन्तव्यापी सुवास से काव्योपवन महक उठा। परन्तु समय के प्रवाह से रूढ़ियाँ पैदा हुईं, समालोचना होने लगी और प्रतिक्रिया का वेग बढ़ा। लोग पूछने लगे कि छायावाद ने हमें और हमारे साहित्य को क्या दिया ? जिन कवियों ने सोत्साह छाया-वाद का उन्नयन किया था, उन्होंनें ही, हवा का रुख पहिचानकर क्रमशः

उपसंहार और आक्षेप

'प्रगतिवादी' दिशा का पथ पकड़ा, और आज छायावादी युग समाप्त भी हो गया; तथा प्रगतिवाद का उद्घोष ऊँचा हो सुनाई दे रहा है। आलोचक-वर्ग ने छायावाद में निम्न दोष निकाले।

(i) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है।

(ii) पलायनवादी प्रवृत्ति का पोषक है।

(iii) भावों में विशृंखलता व अप्रासादात्मकता रहती है। शैली नवीन होने पर भी रूढ़िग्रस्त है।

(iv) यथार्थ से दूर और वास्तविक जीवन से विमुख है।

(v) और छायावाद भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओं से अनुप्राणित नहीं।

पगतिवाद

काव्य प्रातिबिम्बिक सत्ता है। उसमें लौकिक अवस्थाओं और लोकभावनाओं का चित्र रहता है।

काव्य और लोक-जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट है। इसलिए यह कहना उचित ही होता है कि काव्य लोक की वस्तु है। लोक में प्रवर्तित और विद्यमान चिन्ता, आकांक्षाओं और मनोवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब काव्य में रहता है। और क्योंकि काव्य का कर्त्ता कवि स्वयं संवेदनशील प्राणी होता है, अत: लोक-भावनाओं की सह अनुभूति से कवि के मानस पर जो भावोन्मेष होता है उन्हीं का चित्रण काव्य में अंकित रहता है। लोकगत भावनाएँ कवि के हृदयरूपी ताल-फलक के माध्यम में से संचरित होकर ऐसे मनोज्ञ छाया-चित्रों के रूप में पाठक के सामने आती हैं, जिन्हें वह मुग्धभाव से ग्रहण करता है।

इसी के साथ-साथ ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय आलोचना हमें यह भी बताती है कि लोक की भावधाराएँ और चिन्तासरणियाँ आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों से पूर्णतया परिचालित रहती हैं। उक्त परिस्थियों के बदलते रहने से समाज के मानस-लोक का भी परिवर्नन, परिष्करण होता रहता है। कविवर पन्त की निम्न पंक्तियाँ इसी तथ्य का प्रकटीकरण करती हैं—

वस्तु विभव पर ही जन-गण का भाव-विभव अवलम्बित !

× × × × × ×

मानव-गुण, भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत् !

अर्थात् भौतिक बाह्य साधनों के परिवर्तन से मानव का आचार व्यवहार ही नहीं अपितु दर्शन, चिन्तन और भावन का स्वरूप भी बदल

जाता है। उपर्युक्त तथ्य को इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है:—

किसी कालविशेष की आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक, और धार्मिक परिस्थितियों से	उस काल की लोक-भावनाओं और मनोवृत्तियों का स्वरूप निश्चित होता है।	वही स्वरूप काव्य में कविहृदय के माध्यम से संचरित हो आकर्षक रूप में प्रतिबिम्बित होता है।

इस कारण जब हम कहते हैं कि काव्य किसी कालविशेष के चिन्तन तथा मान्यताओं का प्रतीक है तब उसका यह भी आशय होता है कि उक्त काव्य अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक आदि सभी परिस्थितियों का दिग्दर्शक होता है। इस अर्थ में तो शुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ भी वर्ण्य-काल-विशेष का समग्र चित्र उपस्थित करने में असमर्थ रहते हैं।

अस्तु ! इसी सिद्धान्त के अनुसार द्विवेदीकालीन काव्य में उग्र नैतिकता का नियन्त्रण और छायावादी काव्य में हर प्रकार की रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना दिखाई देती है।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर हिन्दी के द्विवेदी कालीन तथा छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों की दिशाओं का कारण खोजा जा सकता है।

ये दोनों बातें स्पष्टतया अपने युग की प्रतीक समझी जा सकती हैं। युग-विशेष में किसी भी देश के साहित्य ने वैसा रूप क्यों धारण किया, इसे तात्कालिक भौतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ठीक से देखा जा सकता है। द्विवेदी-युग की नीति-भावना पौराणिक रूढ़ियों में बद्धमूल थी, क्योंकि उस समय हमारे समाज में पौराणिकता का ही आधिपत्य था और छायावादी काव्य के कवि युग के लोक-परक मानववाद एवं रवीन्द्र से प्रभावित होकर नवीन मनोवृत्ति के थे। अतः यह काव्य केवल सौन्दर्य और प्रेम

का काव्य बनकर रह गया। प्रथम महासमर के पश्चात् हमारे देश में पश्चिम के स्वच्छन्द विचार पनप उठे थे। उनके प्रभाव से राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक बन्धनों के प्रति विद्रोहाग्नि अन्दर-ही-अन्दर सुलगने लगी थी, पर उसे फैलने-फूटने के लिए आवश्यक अवकाश न था। अतः युग-चेतना से प्रबुद्ध कविगण अन्तर्मुख होकर वैयक्तिक पक्षों की विवृति में ही एकान्त तत्पर हो गये। अपनी भौतिक परिस्थितियों से प्रेरित यही छायावादी काव्य रहा। गाँधी जी की राष्ट्रीय भावना के आलोक में इसकी श्रृंगार-मूलक नग्नता ढकने के लिए समसामयिक आलोचकों ने उसे रहस्यवाद के आभामय अवरण से सुसज्जित कर दिया।

छायावादी काव्य के अनुवर्ती प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि

ऋषि दयानन्द और लोकमान्य तिलक द्वारा स्वातन्त्र्य आकाँक्षा के सम्यक्तया उद्बुद्ध किये जाने पर महात्मा गान्धी ने भारतीय राजनैतिक आकाश में उदित होकर राजनैतिक एवं सामाजिक सभी दिशाओं को एक साथ आलोकित कर दिया। उनके द्वारा आविष्कृत सत्याग्रह के अनोखे अस्त्र ने किंकर्तव्यविमूढ़ भारतीय चेतना को स्वातन्त्र्य का राजपथ दिखा दिया।

गान्धीवाद की व्यापकता

यह समय हमारे देशमें नव-जागरण का था। दीर्घकाल तक गान्धीवाद का सर्वमान्य एकच्छत्र राज्य रहा। गान्धीवादी दर्शन की दृष्टि से जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आध्मात्मिक उन्नति द्वारा भगवत्प्राप्ति है। मानव-प्रेम और अहिंसा इसके बाह्य भौनिक साधन हैं। लोक-सेवा द्वारा जन-जागृति एवं संगठन कर अहिंसक सत्याग्रह से शोषकों का हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है, जिसके कारण समाज के दुःख-दैन्य का विनाश सम्भव है।

समाजवादी विचारधारा का श्रीगणेश

यह गान्धीवादी विचारधारा हमारे पिछड़े पददलित और परवश समाज के संगठन के लिए दो कारणों से ग्राह्य हो सकी। एक तो उसे विदेशी शासन से छुटकारा पाने का अन्य कोई क्रियात्मक उपाय न सूझ रहा था। दूसरे यह भारतीय दार्शनिक परम्परा और आदर्शों के अधिक अनुकूल थी। परन्तु नित्य नवीन वैज्ञानिक साधनों और संसारव्यापी औद्योगिक क्रान्तियों के कारण जीवनोपाय की साधनभूत संसार की अर्थ-व्यवस्था में आमूलाग्र उथल-पुथल होने लगी थी। फलतः नवीन-नवीन सामाजिक व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न तर्क-प्रतिष्ठित क्रान्तिकारी वाद उठे, जिनसे प्रभावित संसार के सुदूर क्षेत्रों में उठने वाली विचार-तरङ्गें भारतीय सीमातट से भी टकराने लगीं। इनमें मार्क्स-प्रतिपादित 'वैज्ञानिक समाजवाद' सर्वाधिक सामयिक और व्यापक सिद्ध हुआ। रूस में मार्क्सवादी शासन-व्यवस्था स्थापित होने पर संसार में इसका प्रभाव आवश्यक रूप से पड़ा। भारत में भी यह लहर आई। १९२७ में यहाँ कम्युनिस्ट-दल (समष्टिवादी दल) की स्थापना हुई। तदनन्तर भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस में भी एक अवान्तर समाजवादी दल (सोशलिस्ट दल) कायम हुआ। संसार के रंगमञ्च पर मार्क्सवादी विचारधारा इतनी सशक्त सिद्ध हुई कि विरोधी संगठनों तक को इसकी सुनिश्चित सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। राजनैतिक क्षेत्रों के बाहर धार्मिक क्षेत्रों पर भी इस विचारधारा का सुनिश्चित प्रभाव पड़ता रहा। तब साहित्य ही इससे अछूता क्योंकर रह सकता था? और तब, जब कि मार्क्सवाद साहित्य और कला को शोषित-पीड़ित सर्वहारा वर्ग के पक्ष के समर्थन द्वारा उनके जीवनोत्थान का साधन मानता हो। १९३५ में एक अन्तःराष्ट्रीय संस्था, जिसका नाम 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' रखा गया, की स्थापना हुई और इसका प्रथम

अधिवेशन पैरिस में सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई० एम० फ़ोस्टर के सभापतित्व में हुआ। इससे अगले ही वर्ष 'भारतीय प्रगतिशील-लेखक संघ' की भी स्थापना हुई, जिसके प्रथम सभापति का आसन हिन्दी के वरद-पुत्र श्री प्रेमचन्द्र ने सुशोभित किया। इस प्रकार हमारे समाज में गान्धीवादी विचारधारा के साथ-साथ एक नवीन मार्क्सवादी विचारात्मक क्रान्ति का सूत्रपात भी होने लगा जिसके परिणाम-स्वरूप यहाँ एक विशिष्ट वर्ग में नवीन सर्वतोमुखी व्यवस्थाओं को मूर्त रूप देने की उत्कट लालसा जागृत हुई और साहित्य को इस विचारधारा के प्रसारार्थ एक साधन के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा। समाजवादी दृष्टि से साहित्य सिद्धान्ततः एक साधन है, जिसे तथाकथित प्रगति का पोषण करना चाहिये। साहित्य के प्रति इस दृष्टिकोण को प्रगतिवाद कहते हैं।

समाजवादी विचारधारा के प्रसूत होने पर छायावादी काव्य की अहंवादी दम्भ वृत्ति नग्न रूप में सामने आ गई

समाजवाद के अनुसार साहित्य एक सामाजिक चेतना है, और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक रोगग्रस्त मनोवृत्ति। इस प्रकार की मनोभावनाओं के प्रकाश में छायावादी काव्य केवल अहंभाव-प्रेरित फेनिल उद्गारमात्र रह जाता है। इन आत्मोद्गारों के भीमकाय ढेरों से समाज का क्या लाभ और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? प्रगतिवादी आलोचक साग्रह यह पूछने लगे कि छायावाद ने हमें क्या दिया? वह स्पष्टतया लोक-जीवन से विच्छिन्न हो समय से पीछे पड़ गया। छायावादी काव्य की इस असफलता को छायावाद काव्य के प्रमुख पुरस्कर्ता पन्त ने इन शब्दों में स्वीकार किया—"किन्तु वह नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था; पर महायुद्ध के बाद की 'अन्न-वस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं

आई थी । उसके **'हास-अश्रु आशाऽकांक्षा'** 'खाद्यमधुपानी' नहीं बने थे । इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक आवरणमात्र रह गया ।"

अत: प्रगतिवाद साहित्य में समय की पुकार होकर उद्भूत हुआ

फलत: यह कहा जा सकता है कि समय की आवश्यकता के रूप में प्रगतिवाद का उदय हुआ । यह संघर्षशील भौतिक साधनापेक्षी युगधर्म के अनुसार शत-प्रति-शत जीवनस्पर्शी होकर सामने आया । इसी में इसका छायावाद से प्रतिकृतित्व है । प्रगतिवाद ने कला की एकमात्र कसौटी लोक-मंगल-विधान स्थिर कर दिया । और सोद्घोष आदेश प्रचारित किया कि कवि को अपनी कला स्वान्त:सुखाय न रख मानव-वाद से अनुप्राणित लोक-कल्याण के उदात्त उद्देश्य के लिए अर्पित करनी चाहिये । संक्षेपत: मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद' समझा जा सकता है ।

मार्क्सवादी विचारधारा को समझने के लिए उसका मूल दर्शन देखना आवश्यक है । इस दर्शन को "द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद" नाम दिया जाता है, जो कि एक विशेष अर्थ को लिये हुए है ।

भौतिकवाद

भौतिकवाद की दृष्टि में इस जगत् का मूलाधार पञ्चभूतात्मक प्रकृति है; इसे ही मैटर या पदार्थ कह लीजिये । जगत् के नाना नाम-रूप इस प्रकृति के ही विकारमात्र हैं । और उनमें चैतन्य की सत्ता किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व के कारण नहीं । आत्मा की पृथक् सत्ता भौतिकवाद में स्वीकार्य नहीं, और जीवन का विकास भी प्रकृति के सूक्ष्मतर परिणाम के रूप में प्रयोगसिद्ध विज्ञान से प्रमाणित है । शरीर की परिचालिका शक्ति के रूप में मस्तिष्क को

माना जाता है। परन्तु इसका स्वरूप अधिक विकसित अन्तरिन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ नहीं। बाह्य जगत् की इन्द्रियों पर जो संवेदनरूप प्रतिक्रिया होती है मस्तिष्क उसका संकलन एवं समन्वय करता है। मस्तिष्क को पदार्थ का ही सूक्ष्मरूप से अधिक विकसित 'परिणाम' मान लेने में वर्तमान विज्ञान हमारी पूरी सहायता सकता है। सारांश यह कि चेतन और अवचेतन सभी रूप उस एक 'प्रकृति' के ही विकारमात्र हैं।

अद्वैतवाद और भौतिकवाद

विचार करने पर ज्ञात होता है कि कथित "भौतिकवाद" अद्वैतवाद की आध्यात्मिक विचारधारा की ठीक विपरीत प्रतिकृति है। दोनों वाद आमने-सामने के सिरों पर प्रतिद्वन्द्वी होकर स्थित हैं। अद्वैत सिद्धान्त अव्यक्त ब्रह्म को एकमात्र अद्वितीय सत्ता स्वीकार करता है और जगत् को मायारूप से उसका परिणाम मानता है। इसके विपरीत भौतिकवाद में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक जैसी शक्तियों को कोई स्थान नहीं। चैतन्य का विकास भौतिक पदार्थ से ही सम्भव माना जाता है। अस्तु !

सृष्टि में प्रगति एवं विकास का क्रम कैसे संभव है

यहाँ पर अब यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति में गतिशीलता या विकास की व्याख्या किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तर में मार्क्स प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में द्विविध विरोधी तत्त्वों के निरन्तर संघर्ष की कल्पना करते हैं। इस आन्तरिक संघर्ष की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जागतिक स्वस्थरूप का उदय तथा अस्वस्थ का क्षय होकर सृष्टि की विकासशीलता सिद्ध होती है। अर्थापत्ति के द्वारा उक्त कथन का यह आशय होता है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के लिए किसी भी व्यतिरिक्त परमसत्ता की कोई आवश्यकता नहीं। उसकी व्याख्या प्रकृति में द्वन्द्वात्मक तत्त्वों के स्वीकार करने से ही सम्भव है।

सृष्टि-उपादानों में द्वन्द्वात्मकता

जगत की गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता की आन्तरिक प्रक्रिया का क्रम बड़ा मनोरञ्जक है। किसी भी प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) में आन्तरिक असंगतियाँ (इनर कान्ट्राडिक्शन्स) स्वतः ही प्रादुर्भूत होती हैं। उनके बढ़ जाने पर पूर्व अवस्थान छिन्न-भिन्न हो जाता है, और नवीन प्रत्यवस्थान (एण्टीथीसिस) की प्रतिष्ठा होती है। पूर्व क्रम से नवीन प्रत्यवस्थान में भी असंगतियाँ पैदा होती हैं और बढ़कर वे उसी के ध्वंस का कारण होती हैं; तत्पश्चात् एक समवस्थान (सिन्थेसिस) की संस्थापना होती है। कुछ समय तक समवस्थान में द्वन्द्वात्मक विरोधी तत्त्वों की साम्यावस्था रहने के बाद पुनः संक्षोभ होने लगता है, जिसका अन्तिम परिणाम एक नये अवस्थान के रूप में सामने आता है। इस प्रकार जगत् में विद्यमान विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्व (संघर्ष) और उसके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। उक्त विरोधी तत्त्वों के संघर्ष की चरम उत्कटावस्था के आने पर पदार्थ में मात्रा (क्वाण्टिटी) और गुण (क्वालिटी) का जब सवेग परिवर्तन होता है तो क्रान्ति की दशा उपस्थित होती है।

भौतिकवादी दर्शन से निःसृत मान्यताएँ

उपर्युक्त "द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी" विवेचन के प्रकाश में जगत् का एकमात्र असन्दिग्ध सत्य 'भौतिक जीवन' ठहरता है। 'परलोक' या 'मोक्ष' जैसी वस्तु की कल्पना निराधार है। भौतिक जीवन का स्वस्थ उपभोग ही परम पुरुषार्थ है। परलोक की निराधार [illegible] कल्पनाओं में उलझे रहना जीवन के प्रत्यक्ष पदार्थ से विमुख होना है—इसे पलायन कह सकते है। जीवनोपाय का प्रमुख साधन 'अर्थ' है, और यह समाज के संगठग का केन्द्र-बिन्दु है। समीचीन आर्थिक व्यवस्था के होने पर वैषम्यरूप दुःख का कारण

निर्मूल हो सकता है। इस वैज्ञानिक समाजवादी व्यवस्था का लक्ष्य समाज में यही साम्य स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति अर्थचक्र की धुरी-रूप उत्पादन के साधनों को सामाजिक नियन्त्रण में लाने से सम्भव है। इस समय संसार में पूँजीवादी अवस्थान अपने समस्त परिजनों—सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और पाशवबाद (Fascism) के साथ मरणासन्न अवस्था में विद्यमान है। साहित्य और कला की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि बह वर्ग-संघर्ष को उद्‌बुद्ध कर अवश्यम्भावी प्रगति में योग देवे।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजवाद कला और साहित्य को प्रचार का एक साधनामात्र मानता है। यहाँ तक पहुँचने के लिए वह निम्न तर्क-सरणि को अपनाता है।

समाजवाद का कला के प्रति दृष्टिकोण

१. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त समाजशास्त्र के नियमों की कसौटी पर परखे जाने पर खरे उतरते हैं, जिससे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या सम्भव होती है।

२. इस कारण मार्क्सवादियों की मान्यता में मनुष्य ही अपने इतिहास का निर्माता है, परन्तु उसकी प्रेरिका उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ हैं, जिसके प्रभाव से मानव के अन्तर्जगत् का निर्माण होता है।

३. 'निरन्तर प्रगति' ही जीवन है। सामाजिक और राजनैतिक प्रगतियों का क्रमशः विकास होता रहता है, क्रान्तियों के विकास की धारा में तीव्रता आती है। इन प्रगतियों का मूल विचारों की क्रान्ति में खोजा जा सकता है। साहित्य ही विचारों की क्रान्तियों का वाहक होता है। रूढ़ि का आश्रय पकड़कर जो साहित्य सामने आता है वह निर्जीव होने से क्रान्ति और प्रगति का पोषक नहीं हो सकता। साहित्य में

सजीवता जन-सम्पर्क से आती है। अतः साहित्य को जन-सम्पर्क से परिपुष्ट होना चाहिये।

४. भौतिकवादी दर्शन के अनुसार संघर्ष की प्रक्रिया में ह्रासोन्मुख और विकासोमुख द्विविध तत्त्व रहते हैं। कलाकार के मन की प्रगतिशीलता इसी में है कि वह पहिचानकर विकासोन्मुख शक्तियों का पोषण और ह्रासोन्मुख का निरसन करे। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि साहित्य एक सामाजिक चेतना है, इस कारण उसका क्षेत्र आवश्यक रूप से सामाजिक हित-सम्पादन में ही परिसीमित है।

५. वर्गात्मक समाज में साहित्य को पूँजीपतियों और सामन्तों के विलास के लिए व्यभिचार और श्रृङ्गार के नग्न-चित्र उपस्थित करने के लिए बाधित होना पड़ता है। अथवा जीवन-संघर्ष से विरत व्यक्तियों की पलायनवादी प्रवृत्ति के विलास की तुष्टि के निमित्त कल्पनालोक के सुनहरी लता-कुन्जों में आश्रय ढूँढना पड़ता है। इस कारण कला और साहित्य के समन्वित विकास के लिए वर्ग-विहीन समाज आवश्यक है; ताकि संस्कृति का स्वस्थ विकास सम्भव हो सके।

६. अतः साहित्य का उद्देश्य काल्पनिक लोक का निर्माण कर सुलभ-विलास को प्रस्तुत करना नहीं अपितु त्रस्त-मानवता की उस शक्ति से सम्पर्क स्थापित करना है जो नव-निर्माण के लिए सतत प्रगतिशील संघर्ष में संलग्न है।

प्रगतिवाद का लक्षण

इतने विवेचन के अनन्तर अब हम 'प्रगतिवाद' को लक्षण के शब्दों में बाँध सकते हैं—"प्रगतिवाद से साहित्य की उस धारा का ग्रहण होता है जो मार्क्स-प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन के आधार पर सृष्टि की गतिशीलता के द्विविध विरोधी और सहयोगी

उपादानों में से सहयोगी तत्त्वों को पहिचानकर उसके प्रचार, प्रसार और पोषरण में कला की सार्थकता स्वीकार कर चलती है।" डा० रामविलास शर्मा ने यों कहा—"प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।" और डा० नगेन्द्र ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया—"प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है। × × × × × ×—प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढंग से, एक विशेष दिशा में। उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।"

प्रगतिवादी साहित्य और आलोचनाओं को समझने के लिये उनकी साहित्य-सम्बन्धी निम्न चार धारणाओं पर ध्यान देना आवश्यक है—इन धारणाओं का आधार उनका उपरिलिखित दर्शन ही है, यह कहने की आवश्यकता नहीं :—

प्रगतिवाद की साहित्य सम्बन्धी धारणाएँ

१. जिस साहित्य में मार्मिकता अर्थात् कला-सौष्ठव के साथ-साथ समाज-हितैषिता भी हो वह प्रगति वादी साहित्य है। और इसी- लिए वह श्रेष्ठ साहित्य भी है। प्रगतिमूलक तत्त्वों से समन्वित उक्तियाँ मार्मिकता के बिना साहित्य के अन्तर्गत नहीं; उनके सम्बन्ध में श्रेष्ठ साहित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

और जो वाणी मार्मिक होने पर भी प्रगति-तत्त्व की पोषिका नहीं वह श्रेष्ठ साहित्य नहीं। अतः मार्मिक होने मात्र से कोई साहित्य श्रेष्ठ साहित्य होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते।

२. साहित्य एक सामाजिक चेतना है। दूसरे शब्दों में साहित्य का

प्रभाव समाज पर आवश्यक रूप से पड़ता है । इस कारण साहित्य को समाज के हित के लिए सचेत होकर प्रयुक्त किया जाना वाञ्छनीय है ।

३. सामाजिक एवं राजनैनिक क्रान्तियों के लिये प्रथम विचारों की क्रान्ति आवश्यक होती है । विचारों में क्रान्ति लाने का प्रमुख साधन साहित्य ही है ।

४. दूसरों की तरह साहित्यिक पर भी सामाजिक उत्तरदायित्व होता है । उसे इसे निभाने के लिए अपनी कला का प्रयोग समाजहित को ध्यान में रखकर करना चाहिये । यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह समझना चाहिये कि वह अपने उत्तरदायित्व से विमुख होता है ।

अभी तक जो परिचय कराया गया है उससे यह बात सम्यक्तया स्पष्ट हो जानी चाहिये कि काव्यगत प्रगतिवाद की धारा साहित्य में मार्क्सवाद की सन्तति है । वह साहित्य में एक वादग्रस्त राजनैतिक विचारधारा को लेकर आगे बढ़ती है । उसका अपना एक सुनिश्चित घेरा है, जिसके बाहर वह नहीं जाना चाहती । इस कारण हमारे अनेक मनीषी आचार्य, जो साहित्य को किसी भी वाद के बाड़े में बन्द देखना नहीं चाहते, इसे सच्चे प्रगतिवाद के अन्तर्गत नही गिनते ।

वादग्रस्त प्रगतिवाद और सच्चा शाश्वत प्रगतिवाद

उनकी व्याख्या के अनुसार कोई भी कलाकार जो मानव-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण लोक-मंगल की भावना का पुरस्कार करने में यतमान है, प्रगतिवादी हो सकता है। जिन महाकवियों की समर्थ वाणी ने मनुष्य-जीवन को गति प्रदान की है, वे सभी प्रगतिवादी हैं । मार्क्सवाद के अनुयायी न होने मात्र से ही उनके साहित्य की लोक-मांगलिकता का गौरव कम नहीं किया जा सकता । लोक-संग्रह की जिस अत्युच्च व्यापक भूमिका पर अवस्थित हो महाकवि तुलसीदास ने जन-

जीवन की आन्तरिक और बाह्य निबिड़ताओं के गहन जाल को अपनी मंगलमयी वाणी की मंजुल आभा से विच्छिन्न कर सुष्ठुरूपेण आगे बढ़ाया है वह विश्व-साहित्य में अलभ्य है। इतिहास के किसी संगीन स्थल पर आकर परिस्थितियों से व्यग्र उदग्र जनता में सहसा उत्तेजना की भावना फूँककर सफल क्रान्ति कराने वाले स्मरणीय साहित्य की अपेक्षा तुलसी के सौम्य साहित्यिक-सोम-रस की महिमा कहीं निराली है; जिसने भारतीय जीवन की प्रत्येक अवस्था और परिस्थिति में अलक्ष्य प्रेरणाओं के स्वस्थ उन्माद को संचरित किया है और आगे भी युगों तक करता रहेगा। तुलसी के साहित्य की यही महिमा है कि वह जन-जीवन को ही नहीं, अपितु युग-जीवन को बाहर-भीतर सभी तरफ से प्रेरणा देने में समर्थ सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से तुलसीदास सब-से बड़े प्रगतिवादी ठहरते हैं। अतः काव्य में सच्चे, शाश्वत प्रगतिवाद को ही स्थान मिलना उचित है, वादग्रस्त को नहीं। जो मर्मस्पर्शिणी वाणी मानव की भावनाओं में जीवन को आगे बढ़ानें की अलक्ष्य-व्यग्रता संचरित कर देती है वह अवश्य ही शाश्वत-प्रगतिवाद के अन्तर्गत समझनी चाहिये। देखिये तुलसी के ये क़दम कितनी तेज़ी से उठ रहे हैं; क्या यह किसी सैनिक-मार्च से कम हैं:—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारन सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीद कै सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

उदयशंकर भट्ट के संवेदनशील हृदय में मजदूर की पीड़ा समा गई, जिससे कवि शोकावेग को असहमान होकर चीख पड़ा—

मेरी बरसातें आँसू रे, मेरा वसन्त पीला शरीर
गरमी झरनों सा स्वेद, मेरे साथी दुख दर्द पीर

दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हें आरम मिला
बलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला।

सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान के स्व-संस्कृति-पोषित प्रगतिवाद से उद्बुद्ध हो युगों से बन्दिनी अबला की तेजी भी दर्शनीय है:—

सबल पुरुष यदि भीरु बनें तो हमको दे वरदान सखी
अबलाएँ उठ पड़ें देश में, करें युद्ध घमसान सखी।

सच्चे शाश्वत प्रगतिवाद की उक्त दृष्टि पा जाने पर अनेक आलोचकों ने कबीर से लेकर आधुनिक काल के महाकवियों तक में प्रगतिवाद की एक सुनिश्चित परम्परा के बीज खोज निकाले हैं। वे यह भी कहते हैं कि कवि युग की पीड़ाओं और क्रन्दनों की ओर से देर तक उदास नहीं रह सकता। आखिर छायावाद की उन्मादिनी छाया के नीचे अन्तस् की एकान्त साधना में लीन कवियों की मोहनिद्रा भी भंग हो गई। और वे यथार्थ की कठोर भूमि पर अवतरित होकर जन-जीवन की धारा में सबके साथ बढ़ निकले, जिसके कारण यह कहा गया कि हमारे कवि युग-चेतना को पहिचानकर स्वत: ही शाश्वत-प्रगतिवादिता का परिचय देने लगे थे। मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी और एक भारतीय आत्मा आदि अनेक कवियों की रचनाओं में यह चेतना स्पष्टतया स्पन्दित होते हुये देखी जा सकती है। अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं विचार-परम्परा को छोड़कर अन्यत्र से आदेश-निदेश पा-पाकर पंक्तियाँ घड़ने की इन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी। गुप्त जी की 'भारत-भारती' में यह प्रगतिशीलता खूब मिली। अस्तु!

अब यहाँ पूर्वकथित प्रगतिवादी काव्य का अवलोकन करते हुए तद्गत कविताओं की मार्मिकता और विषय-वस्तु का विश्लेषण करना आवश्यक है, क्योंकि प्रगतिवाद भौतिक मानों को साहित्य का मापक ठहराता है इसलिए उसकी प्रत्येक कविता किसी पार्थिव स्थूल उद्देश्य को ही सामने रखकर रची जाती है।

प्रगतिवादी काव्य की समीक्षा

कहना न होगा कि ये उद्देश्य वे ही हो सकते हैं जो कि मार्क्सवाद के हैं। मार्क्सवाद के प्रयत्नों के निम्न चार लक्ष्य बताये जाते हैं:—

प्रथम लक्ष्य—वर्ग-संघर्ष को उभाड़ना।

इस लक्ष्य की पूर्त्यर्थ लिखी गई कविताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है:—

मार्क्सवाद तथा प्रगतिवादी काव्य के चार लक्ष्य

(i) शोषित वर्ग की विपन्नावस्था का चित्रण करने वाली तथा उनके पक्ष का समर्थन करने वाली कविताएँ।

(ii) दीन जनों के व्यङ्ग्यात्मक चित्र प्रस्तुत कर उन्हें अपनी दशा के प्रति सजग विद्रोही बनाने वाली कविताएँ।

(iii) चिरशोषिता नारी की मुक्ति का सन्देश सुनाने वाली कविताएँ।

द्वितीय लक्ष्य—संस्कृति सभ्यता के शत्रु पूँजीवाद को सपरिवार विनष्ट करना।

इस लक्ष्य से लिखी गई कविताएँ निम्न दो वर्गों में रखी जा सकती हैं:—

(i) शोषकवर्ग की क्रूरता, विलासिता और धर्म, कानून तथा नैतिकता आदि से ढके कुचक्रों का भण्डाफोड़ करने वाली कृतियाँ।

(ii) लालसेना की विजयाकांक्षा तथा उसका स्तवन करनेवाली पंक्तियाँ।

तृतीय लक्ष्य—जन-संस्कृति का निर्माण कर सामाजिक क्रान्ति की भूमिका प्रस्तुत करना और क्रान्ति को प्रोत्साहन देना।

इस लक्ष्य से लिखी कविताएँ भी तीन वर्गों में विभक्त की जा सकतीं हैं:—

(i) ईश्वर तथा भाग्यवाद का तिरस्कार करने वाली कविताएँ।

(ii) यथार्थवादी-प्रकृतिचित्रण-परक कवितायें।

(iii) सामयिक समस्याओं यथा महँगाई, बंगाल का अकाल और युद्ध आदि पर लिखी गई कविताएँ।

चतुर्थ लक्ष्य—समाजवाद (सोशलिज़्म) के द्वारा साम्यवाद (कम्यूनिज़्म) की स्थिति लाना।

उपर्युक्त वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर प्रगतिवादी काव्य का क्रमशः पर्यवेक्षण करना सुलभ होगा। समाज की वैषम्यमयी अवस्था का

प्रथम लक्ष्य सम्बन्धी काव्य

सुलभ शिकार किसान-मजदूर हैं। वह सब कुछ होकर भी कुछ नहीं। सोहनलाल द्विवेदी उनसे प्रश्न पूछकर उन्हें उनकी वास्तविक शक्ति का बोध कराने का प्रयत्न करते हैं:—

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात; तुम्हारे बल पर चलते हैं शासन ?
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात; तुम्हारे धन पर निर्भर सिंहासन ?
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात; तुम्हारे श्रम पर सब वैभव-साधन ?

× × ×

ये बड़े-बड़े साम्राज्य-राज, युग-युग से आते चले आज।
ये सिंहासन ये तख़्त ताज, ये किले दुर्ग गढ़ शस्त्र साज।
वह तेरी हड्डी पर किसान ! वह तेरी पसली पर किसान !
वह तेरी आँतों पर किसान ! नस की ताँतों पर रे किसान !

किसान के साथ ही 'सुमन' का 'बेघरबार' भी फुटपाथ पर पड़ा है:—

"इस ओर पड़ीं खानाबदोश,
मेहनतकश मानव की पाँतें !
फुटपाथों की चट्टानों पर,
जो काट रहीं अपनी रातें।"

हमारे ग्राम प्रकृति-धाम हैं, जहाँ तृण-तृण और कण-कण प्रफुल्लित है, परन्तु मानव (?).........

यह खर्व नर (वानर ?) रहते युग-युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित!
मानव दुर्गति की गाथा से, ओत-प्रोत मर्मान्तक!
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमाञ्चक॥

हमारा दरिद्र-नारायण न केवल भौतिक अभावों से ग्रस्त है, अपितु अपने रूढ़ि-गत संस्कारों की शृंखलाओं से भी जकड़ा हुआ है—

वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी वृष-बान्धव, कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।

महाकवि निराला नें छायावादी शैली में "इलाहाबाद के पथ पर" मजदूरनी का चित्र उतारा। दूसरी तसवीर "भिक्षुक" की है। ये दोनों कविताएँ शब्दचित्र होकर समाज की दुर्दशा का प्रमाण बन जाती हैं:—

[1] वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर,
वह तोड़ती पत्थर!
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम-तन, भर-बँधा यौवन,
नत-नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ;

चढ़ रही थी धूप ;
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप ;
उठी झुलसाती हुई लू ,
रुई ज्यों जलती हुई भू ;
गर्द चिनगी छा गई ;
प्रायः हुई दुपहर :—
वह तोड़ती पत्थर
एक छन के बाद वह काँपि सुघर
ढुलक माथे से गिरे सीकर—
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा
मैं तोड़ती पत्थर !

× × ×

[२] वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक ,
चल रहा लकुटिया टेक ,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

पर यहाँ तो कुछ व्यक्ति ही "भिक्षुक" के रूप में हों सो नहीं, "अञ्चल" को तो सम्पूर्ण नस्ल पर ही सन्देह है—

वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती ।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती !

इसी कारण पन्त का हृदय भी पसीज उठा:—

इन कीड़ों का मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज ।

भगवतीचरण वर्मा की सुप्रसिद्ध "भैंसागाड़ी" ने लोक-क्रान्ति के अग्रदूत कृषक के जीवन-वैभव (?) का कैसा मार्मिक उपहास उपस्थित किया है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों से, हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको पर वे कहते हैं उसे ग्राम,
जिसमें भर देती निज धुँधलापन, असफलता की सुबह-शाम
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, यह है लोगों का एक काम॥

× × ×

वह राज काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंगालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिलतिल मिटनेवालों पर।
वे व्यौपारी, वे जिमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामित सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।
इस राजकाज के वही स्तम्भ उनकी पृथिवी उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीं के, और उन्हीं के स्वर्ग-सदन।
उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरन्तर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन।
दानवता का सामने नगर! मानव का कृश कंकाल लिये—
चरमर चरमर-चूँ-चरर-मरर जा रही चली भैंसागाड़ी!

ऊपर के काव्य-विधान में शोषित का उघड़ा हुआ चित्र मौजूद है, जिसमें से उसकी पीड़ा मुखरित है। परन्तु सीधी तरह कहने की अपेक्षा व्यंग्यात्मक शैली द्वारा दीन जनों को अपनी अवस्था के प्रति सजग विद्रोही बनाना कहीं सुकर है। केदारनाथ अग्रवाल का 'चंदू' फोकट के जीवन को कैसे अलिप्तभावेन बिता रहा है—

चंदू चना चबैना खाता।
मुफ्त मिले अपने जीवन के
घण्टों मिनट सैकण्डों को गिन—
कभी नहीं वह दाम लगाता !
भीख माँगते पैसा पाता।
ईश्वर, धर्म, समाज, संपदा,
विद्या, बुद्धि, विवेक खोजता—
कभी नहीं वह समय गँवाता।

× × ×

कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाये
शेष आयु का धुँआ उड़ाता
चंदू-चना चबैना खाता।

उक्त व्यंग्यात्मक प्रणाली का उपयोग जड़ता, प्रतिगामिता और अकर्मण्यता के मूल कारण रूढ़िवादी अन्धविश्वासों के विध्वंस के लिए भी किया गया है। पन्त ने अपनी 'ग्राम-देवता' कविता में अकर्मण्य ग्रामीण की सम्पूर्ण बौद्धिक जड़ता को एक बार में ही निशाना बनाया है:—

हे ग्राम्य देवता, यथा—नाम !
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम !
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह-शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम !
पण्डित, पण्डे, ओझा, मुखिया औ साधु-सन्त
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पन्थ
जो था, जो है, जो होगा—सब लिख गये ग्रन्थ
विज्ञान-ज्ञान से बड़े तुम्हारे मन्त्र-तन्त्र।

× × ×

राम राम

हे ग्रामदेव लो हृदय थाम,
अब जन स्वातन्त्र्य युद्ध की जग में धूमधाम।
उद्यत जनगण युग-क्रान्ति के लिए बाँध लाम;
तुम-रूढ़ि रीति की खा अफीम, लो चिर विराम!

देश-विदेश के कितने ही कला-उपासक 'ताजमहल' को प्रेम के मन्दिर के रूप में देखते चले आ रहे हैं और प्रेम की अविच्छिन्नता के मर्म की प्रशस्तियों को गाते रहे हैं जो ताजमहल के निर्माताओं को मृत्यु के बाद भी बाँधे हुए हैं। परन्तु आज के युग में वह सामन्ती प्रेम उपहास का विषय बन गया है। महाकवि पन्त ने नवीन दृष्टि के अनुसार उस पर करारा व्यंग्य कसा है:—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!

× × ×

मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति!

× × ×

प्रेम-अर्चना यही करें हम मरण को वरण?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप, रंग आदर मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?

कृषक-मजदूर के अतिरिक्त 'आधी-दुनिया' भी सदा समाज की कुव्यवस्थाओं द्वारा पीड़ित है। नारी की परवशता और दुर्दशा अन्य शोषितों से कम भयावह नहीं। उसे युग-युगान्तरों से पुरुष ने क्रीतदासी बना रखा है। उसका शरीर पुरुष की कामवासना की तृप्ति का साधन-

मात्र समझा गया, और इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए समाज, धर्म और राजनीति की उन कानूनी धाराओं का निर्माण हुआ जो नारी की इसी स्थिति का समर्थन करती हैं :—

क्षुधा काम वश गत युग ने,
पशु-बल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश,
नारी भी कर ली अधिकृत।

पुरुष ने नारी के रूप को सजाया और उसकी प्रशंसा के गीत गाये। नारी ने इसमें अपना गौरव समझा, जिसकी भीनी-भीनी मादकता से वह अपनी वास्तविक स्थिति भूल गई और पुरुष को सभी प्रकार से आत्मसमर्पण कर दिया। उसकी परवशता की यही पराकाष्ठा है।

अतृप्त-रूप-लालसा लेकर 'तुम्हारे पलकों ने न जाने कितने हृदयों को घायल कर दिया' का राग गाने वाले प्रणय-प्रसादाभिलाषी कवियों का जर्जरित और गलित दृष्टिकोण—

बाँधा है विधु को किसने
इन काली जंजीरों से;
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से।
काली आँखों में कैसी
यौवन के मद की लाली;
मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली।
गिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली,
काला पानी बेला सी।
है अंजन रेखा काली।

अंकित कर क्षितिज पटी को
तूलिका बरौनी तेरी।
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।—["आँसू"—प्रसाद]

अन्धकार युग की भावना का प्रतीक है। सामन्ती सभ्यता की सती, बालविधवा और वेश्या को प्रगति के युग में सदाचार-सम्बन्धी नूतन दृष्टि मिलनी चाहिये। 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' वाली अबला को एकदम कामरेड बना दो—

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

× × × ×

मुक्त करो जीवन संगिनि को, जननि देवि को आदृत
जग-जीवन में मानव के संग, हो मानवी प्रतिष्ठित।

× × × ×

मुक्त करो नारी को मानव, चिर वन्दिनी नारी को,
युग-युग की बन्दी कारा से, जननि सखी प्यारी को!

× × × ×

उसे मानवी का गौरव दे, पूर्ण स्वत्व दो नूतन
उसका मुख जग का प्रकाश हो उठे अंध अवगुण्ठन!
खोलो हे मेखला युगों की, कटि प्रदेश से तन से
अमर प्रेम ही बन्धन उसका, हो पवित्र वह मन से।

अब कविता और प्रेम सभी इसी पृथ्वी के बन गये हैं; उनमें स्वर्गीय रहस्य, कुञ्जें, और कल्पना की लताएँ नहीं रहीं। जैसे का तैसा—यथार्थवादी प्रेम और कविता— सामने आ गया:—

मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है
बड़ी-बड़ी आँखोंवाली वह युवती,
सारी कथा खुल-खुल कर कहती है
चितवन उसकी और चालढाल उसकी।
पैदा हुई है गरीब के घर, पर
कोई जैसे जेवरों से सजता हो,
उभरते जोबन की भीड़ खाता हुआ
राग साज पर जैसे बजता हो। —निराला।

प्रगतिवाद सिद्धान्ततः रूढ़ि-विरोधी है। वह 'उन्मुक्त-प्रेम' को स्वाभाविक स्थिति स्वीकार कर उसे ही अधिक प्रश्रय प्रदान करता है:—

यों भुज भर कर हिये लगाना
है क्या कोई पाप?
ललचाते अधरों का चुम्बन
क्यों है पाप-कलाप? ["कुंकुम"—नवीन]

उन्मुक्त-प्रेम-व्यापार में असाहसिक पुरुष को कैसी लताड़ सुननी पड़ रही है:—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर!
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर!
क्या क्षुद्र गुह्य ही बना रहेगा, बुद्धिमान्!
नर-नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण?

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज दिन समाज में पवित्र प्रेम पर वासना की काई जमी हुई है, और हम अपने भीतर बैठे हुए चोर के कारण प्रेम को स्वाभाविक रूप देने में असमर्थ हैं।

परन्तु प्रगतिवाद की यह भी मान्यता है कि यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण के साथ-साथ जन-सामान्य पर पड़ने वाले प्रभाव का भी पूरा ध्यान रखा जाय। अतः यह सर्वथा विचारणीय है कि हमारे समाज में उस उन्मुक्त-प्रेम-व्यापार के प्रचार का प्रभाव कितने अंशों में स्वास्थ्य-प्रद हो सकता है? भारतीय लोक-परिपाटी और शिष्टता के अतिक्रमण करने मात्र से ही प्रेम के ऊपर चढ़ी वासना की जंग छुट जायेगी; नहीं कहा जा सकता। उन्मुक्त-प्रेम यदि संयमहीन उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर ले तो वह संस्कृति और सभ्यता के लिए परम घातक है। इसी दृष्टि को सामने रखकर समन्वयवादी कवि पन्त स्वच्छन्द "आधुनिका" को लक्ष्य करके कहते हैं:—

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी!
आधुनिके! तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी!

भारतीय नारी के चिर-प्रतिष्ठित शील, संकोच और लाज के गौरव को दृष्टि में न रखकर केवल हास-विलासमय लालित्य को आधुनिकतम नवीनता कहना श्रेयस्कर नहीं। इस प्रकार की फैशनेबिल वृत्ति पर पन्त ने करारा व्यंग्य किया है:—

कुल-वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार!
शयन-कक्ष दर्शनगृह की शृङ्गार।
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प-पात्र में शोभित, रक्षित,
कुम्हलायी जाती हो तुम, निज शोभा के ही भार!

द्वितीय लक्ष्य-परक काव्य

अस्तु! सुप्रसिद्ध 'भैंसागाड़ी' कविता में धन-लोलुप पूँजीपतियों के विलास-वैभव का भण्डाफोड़ बखूबी मिलता है:—

है बीस कोस पर एक नगर, उस एक नगर में एक हाट।
जिसमें मानवता की दानवता, फैलाये है निज राजपाट॥

साहूकारों के पर्दे में हैं, जहाँ चोर और गिरहकाट।
है अभिशापों से भरा जहाँ, पशुता का व्यापक ठाट-बाट॥

शोषितों की मज़दूर-किसान की जोड़ी के विपरीत शोषकवर्ग में पूँजीपति के सहयोगी राजन्य-गण हैं। इनका विलास-वैभव पीड़ित की छाती पर नृत्य करता है। 'प्रलयवीणा' में सुधीन्द्र की झंकार सुनिये:—

जिनके प्रपुष्ट कन्धों पर हैं साम्राज्य तुम्हारे आज टिके
उनके यश मान लाज सब कुछ हैं आज तुम्हारे हाथ बिके
तुम चूस प्रजा का रक्त-मांस शोषण कर हृष्ट-पुष्ट बने
उनके लोहू से रंगते हो, तुम अपने वैभव के सपने!

पूँजीवाद के परिवार को, यदि आवश्यकता पड़ी तो, 'लाल-सेना' की धमकी भी दी जा सकती है:—

खोलो लाल निशान!
हो सब लाल जहान! खोलो लाल निशान!

क्योंकि—

लाल रूस है ढाल साथियो, सब मज़दूर किसानों की।
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन, साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मज़दूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

—नरेन्द्र

तृतीय लक्ष्य से सम्बन्धित काव्य

'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के प्रसारक 'प्रगतिवाद' में 'ईश्वर' जैसी 'शक्ति' की क्या आवश्यकता? फिर जन-गण जो उसके पीछे पड़ा है, वह एक प्रति-गामिता ही तो ठहरी:—

आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते।
नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते।

किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता !---अंचल।

ईश्वर की स्पष्ट प्रतारणा के बाद आत्मा का नम्बर आया। आत्मा तो सूक्ष्म अनश्वर है, उसे 'जग' की क्या आवश्यकता ? जग की अपेक्षा तो इस 'रक्त-मांस-पिण्ड' को है---"**जीवन की कण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित।**" इस प्रकार आत्मा और शरीर में शरीर दुर्बलतर है, उसी के लिए जग की उपयोगिता है और एतदर्थ उपयुक्त बनाना चाहिये। शरीर में आत्मा ही सारवस्तु है, शरीर क्षण-भंगुर मिट्टी है।

जलछिति पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम शरीरा॥

इस प्ररूढ़ तत्त्वज्ञान का थोथापन पन्त ने निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया है:—

आत्मा का अधिवास न यह,—वह सूक्ष्म अनश्वर !
न्यौछावर है आत्मा नश्वर रक्त-मांस पर,
जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर।

इसके आगे प्रगतिवाद काव्य से कल्पना और भावुकता का बहिष्कार कर कविता-कामिनी को अपने स्वाभाविक यथार्थ रूप में देखना चाहता है। इस दृष्टि से यथार्थवादी प्रकृति-चित्रण-परक कई कविताओं में कला का निर्मल सादा रूप सुन्दरता से सामने आया। यह 'स्वयंवर' अवश्य दर्शनीय है:—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है

पास ही मिलकर उगी है,
बीच में, अलसी हठीली—
देह की पतली, कमर की है लचीली;
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है,
जो छुपे यह,
दूँ हृदय का दान उसको !
और,
सरसों की न पूछो।
हो गई सबसे सयानी;
हाथ पीले कर लिये हैं;
ब्याह-मंडप में पधारी।
फाग गाता मास फागुन
आगया हो पास जैसे !
देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है !—केदारनाथ अग्रवाल।

वसन्तागम के समय जिन्होंने 'ग्राम-श्री' देखी होगी वे सहज ही में इस प्रकृति-चित्र की मोहकता का ग्रहण कर सकेंगे:—

उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
फूली सरसों पीली-पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही,
नीलम की कलि, तीसी नीली।
रंग रंग के फूलों में रिलमिल
हँस रही संखिया मटर खड़ी,
मखमली पेटियों सी लटकीं
छीमियाँ, छिपाये बीज लड़ी

× × × ×

झर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली।

× × × ×

ऊँची अरहर में लुका छिपी
खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुम्बन पा प्रेमी युवकों के
श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं।

× × × ×

मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम—
जिस पर नीलम नभ-आच्छादन,—
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शान्त
निज शोभा से हरता जन मन !

भौतिक मानों को ही साहित्य का मापक माननें वाला प्रगतिवादी कवि भला सामयिक समस्याओं से कैसे विमुख रह सकता है। वर्ग-संघर्ष तथा सुख-संविधान की तीव्र लालसा आदि जागृत करने के ये ही अलभ्य अवसर माने जाते हैं। बंगाल के अकाल ने न केवल प्रगतिवादियों को ही अपितु प्रत्येक सच्चे कवि को उस ओर ध्यान देने के लिए बाधित किया; क्योंकि कोई भी सहृदय कवि देर तक इस प्रकार मानवता के विनाश से उदासीन नहीं रह सकता। यह और बात है कि कौन किस रूप में उसे देखता है। केदारनाथ अग्रवाल ने उस दारुण दशा का चित्र निम्न शब्दों में रखा:—

बाप बेटा बेचता है।
भूख से बेहाल होकर
धर्म, धीरज, प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर

राष्ट्र सारा देखता है ।
बाप बेटा बेचता है ।
माँ अचेतन हो रही है
मूर्च्छना में रो रही है
दम्भ के निर्मम चरण पर
प्रेम माथा टेकता है
बाप बेटा बेचता है ।
शर्म से आँखें न उठतीं
रोष से छाती धधकती,
और अपनी दासता का
शूल उर को छेदता है ।
बाप बेटा बेचता है ।

जब द्वितीय विश्वयुद्ध अपने सर्वग्राही विकराल रूप को संसार पर फैलाता चला जा रहा था तो नरेन्द्र ने कवियों और देश को यह सन्देश सुनाया:—

गरज रही हुँकार, हो रहा घर घर हाहा-कार
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
शतशः योजन शस्य-श्यामला पृथ्वी के निरुपाय,
शतशः अब्द सभ्यता के पददलित आज असहाय,
यहाँ क्षुधा का देश, दासता, विग्रह का आगार;
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?

यहाँ तक हमने देखा कि आज का प्रगतिवादी कवि उत्पत्ति के सम्पूर्ण साधनों पर समाज को एकाधिकार दिलवाने के लिए, काव्यगत सभी शक्तियों का उपयोग करता हुआ 'समाजवाद' की प्रस्थापना का यत्न करता है। यही समाजवाद साम्यवाद की आदर्श स्थिति को ला सकता है, जिसके लिए कवि

चतुर्थ लक्ष्य के लिये मंगलकामना

वाणा को तपश्चर्यामय निर्विलास जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है:—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

भव कर्म आज की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपान्तर भी जनैक्य पर अवलम्बित,

तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

× × × ×

तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आरपार
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,

ज्योतित कर जनमन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

अस्तु ! प्रगतिवादी काव्य की मार्मिकता और विषय-वस्तु के व्याज से हमने उसका भावपक्ष देखा। अब यहाँ संक्षेप में कलापक्ष का किंचित् विश्लेषण करने के पश्चात् यह प्रकरण समाप्त हो जायेगा।

कलापक्ष

प्रगतिवादियों ने काव्य में नवीन विचारों और भावों के साथ साथ अभिव्यंजना के नये-नये आलम्बन और उपादानों की अवतारणा की है। इसका कारण यह है कि कला और साहित्य

के प्रति उनका दृष्टिकोण भावात्मक न होकर बुद्धिप्रधान आलोचनात्मक है। उनकी प्रवृत्ति विशेष से हटकर सामान्य की ओर है। काव्य में सूक्ष्म, सुन्दर, कोमल और चुनी हुई सामग्री ही ग्राह्य होती है; प्रकृत, कुत्सित, लघु और अनघड़ तिरस्करणीय है; इस परम्परागत धारणा के स्थान पर साधारण स्वस्थ जन-जीवन के व्यवहार में आने वाली सम्पूर्ण सामग्री को काव्य-विषय माना। उनकी सम्मति में स्वस्थ जीवन-दर्शन यथार्थ और वास्तविकता की भूमि पर स्थित होता है। यथार्थ जीवन में सूक्ष्म-स्थूल, सुघड़-अनघड़ और रुक्ष-कोमल सभी हैं। अथच सूक्ष्म-स्थूल का अन्तर काल्पनिक है। मानसिक विलास और रूप मोह में पड़कर जीवन के स्वस्थ एवं उपयोगी उपादानों को उनके वाह्य प्राकृत और अनघड़ रूप के कारण त्याज्य मानना उचित नहीं। जीवन को सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना वांछनीय है। अस्तु !

इन आधारों पर प्रगतिवादी काव्य में रूप-रंग और रोमांस से प्रेम करने वाला रीतिकालीन कला-विलास तथा छायावादी दूरारूढ़ कल्पना व मधुचर्यातिरेक का अभाव है। जन-सामान्य से सम्बन्धित और जन-सामान्य के लिए ही होने के कारण सरल और सीधा है—अर्थात् ठेठ खड़ीबोली में खरा, खड़ा और तीखा है।

निराला जी की 'कुकुरमुत्ता' कविता में इस नई कविता की प्रमुख विशेषताएँ एक स्थान पर ही मिल सकती है। 'कुकुरमुत्ता' की कहानी यह है—"एक नवाब साहब बगीचे के बड़े शौकीन थे। उनके बगीचे में फारस तक के गुलाब के फूल बड़ी देख-भाल से लगाये गये थे। मालिन की लड़की 'गोली' और नवाबजादी 'बहार' में बड़ी प्रीति थी। गोली ने गुलाब की क्यारियों की सफाई के लिए स्वतः उगे हुए कुकुरमुत्तों को उखाड़ लिया और कबाब बनाया। यह कुकुरमुत्ते का कबाब बहार ने भी खाया। कबाब की तारीफ नवाब साहब के कान में भी पड़ी। उन्होंने माली को बुलाकर हुक्म दिया कि

गुलाब की जगह कुकुरमुत्ते उगाये जायें। उत्तर मिला —

मुआफ़ करें खता;
कुकुरमुत्ता उगाया नहीं जाता।"

इसका व्यंग सीधा होने के साथ साथ शक्तिशाली भी है। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है :—

अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट,
कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, खिलाया जाड़ा घाम।

अंग्रेज़ी काव्य में की भर्ती और उस पर हमारे पाठकों के श्रद्धापूर्ण-विस्मय के प्रति भी कुछ छींटे लगे हाथ फेंक दिये हैं :—

कहीं का रोड़ा, कहीं का लिया पत्थर,
टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा,
पढ़ने वालों ने जिगर पर हाथ रखकर
कहा, "कैसे लिख दिया संसार सारा

अभिव्यञ्जना की नई बानगी देखिये :—

आगे चली गोली जैसे डिक्टेटर
उसके पीछे बहार, जैसे भुक्खड़ फालोअर,
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
आधुनिक पोयेट (Poet)
पीछे बाँदी वचत को सोचती
कैपिटलिस्ट, क्वाएट (Quiet)

कुकुरमुत्ता 'असंस्कृत-सामान्य' का प्रतीक है। यह स्वतः ही उगता एवं विकसित होता है। गोली की कृपा से बहार भी इस 'असंस्कृत-

सामान्य' के सम्पर्क में आई जिससे बहार ने भी स्वस्थ जीवन की उष्णता (कबाब का स्वाद) को अनुभव किया और उसी की कामना करने लगी। इसके विपरीत कृत्रिम देखभाल (शिक्षा-दीक्षा) और खाद (शोषितजन) के खून को चूसकर परिपुष्ट कोमल-कान्त-कलेवर गुलाब के फूल, शोषक धनपतियों की तरह समाज के लिए सर्वथा अनुपयोगी बनकर, रमणी-जनों की विलास-वस्तुमात्र रह जाते हैं।

'कुकरमुत्ता' तथा अन्य कविताओं को देखकर हम निम्न तथ्यों का संग्रह कर सकते हैं :—

(i) कि प्रगतिवादी काव्य में भाषा में गद्यात्मकता रहती है।

(ii) कि अभिव्यञ्जन-प्रणाली में चमत्कार की कामना से विरहित होकर प्रभावोत्पादन के लिए व्यंग्योक्ति और अन्योक्ति जैसी कतिपय पद्धतियों का मुख्यतया ग्रहण किया जाता है। नवीन आलम्बनों व उपादानों के सहारे भी सफलतापूर्वक प्रभाव पैदा किया जाता है।

(iii) कि भाषा सरल व सुबोध बनाई जाती है।

(iv) कि छन्दों के बन्धन का आग्रह नहीं। मुक्त-छन्दों की प्रवृत्ति है।

— — — —

साहित्य अतृप्त वासनाओं की पूर्ति का साधन है

[फ्रायड के सिद्धान्तों पर अवस्थित साहित्यिक मतवाद]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भारी क्रान्ति का मुख्य श्रेय कुछ आस्ट्रियन पण्डितों को है। इनमें फ्रायड, युंग और ऑडलर का नाम प्रधानतया उल्लेखनीय है। इन्होंनें मनोविज्ञान शास्त्र में कई नवीन तथाकथित खोजें कीं। तथाकथित इसलिए कि अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि अवचेतन मन (जिसकी सर्वप्रथम सत्ता को फ्रायड ने खोज निकाली—ऐसा कहा जाता है) की इस प्रकार की स्थिति का ज्ञान रखे बिना कोई महान् साहित्यिक अपनी मार्मिक रचनाओं में भावाभिविश्लेषण, नहीं कर सकता जो कि आज दिन तक के संसार के साहित्य में उपलब्ध है। अतः जाने या अनजाने उन्हें अवचेतन मन की करामात का आभास रहता ही था। हाँ, इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि फ्रायड ने अवचेतन मन को वैज्ञानिक भाषा में वैज्ञानिक ढंगों से प्रस्तुत किया जिसके कारण वर्तमान विज्ञान के युग में वह एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकृत हो सका। इसके अतिरिक्त भारतीय शास्त्र के रस-सिद्धान्त के मूलभूत "स्थायीभावों" पर दृष्टिपात करने पर अवचेतन मन के रहस्यों का विशद होना बड़ा ही स्पष्ट हो जाता है। स्थायी (अविच्छिन्न प्रवाह वाले) भाव मूल मनोवृत्तियाँ ही हैं; क्योंकि गूढ़ रूप से उनकी स्थिति मानस में रहती है। अतएव उनकी संज्ञा स्थायी की गई है। स्थायीभावों की इस व्याख्या को दृष्टि में रखने पर उपर्युक्त कथन की सारवत्ता में सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता।

श्री इलाचन्द्र प्रभृति विद्वानों की सम्पति में प्राचीन भारतीय मन

शास्त्रवेत्ता इस अवचेतन मन की खोज बहुत पूर्व ही कर चुके थे। इस के प्रमाण में महाकवि कालिदास के "शाकुन्तलम्" का निम्न श्लोक उद्धृत किया जाता है :—

> **रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्**
> **पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।**
> **तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्**
> **भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि ॥**

[शाकुन्तलम्, अंक ५]

अर्थात् रम्य व मधुर दृश्यों और शब्दों को देख सुनकर जो सुखी जन भी उन्मने हैं उसका कारण यही है कि उनकी जागृत चेतना में विगत जीवन की प्रेम-भरी वे स्मृति उद्‌बुद्ध हो उठती है जो चेतना के भीतर संस्कार रूप बद्ध पड़ी थी।

अस्तु ! अब हम प्रकृत का अनुसरण करते हुए फ्रायड के अनुसन्धानों पर दृष्टिपात करेंगे :—

(i) मानव के अवचेतन मन के अस्तित्व की सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप में सूचना फ्रायड ने दी।

(ii) यौन-प्रवृत्ति मानव-मन की (फलतः मानव-जीवन की) मूल परिचालिका है। फ्रायड इसकी व्याख्या यों करता है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दित अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा है और वह उस विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्धित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है। पर वे दमित मनोवेग सर्वथा विलुप्त न होकर सचेत मन के नीचे उसके अवचेतन भाग में सञ्चित होते रहते हैं। अर्थात् सचेत मन की अनुभूति के परे दमित मनोवेगों का सञ्चित पुञ्ज ही मानव

साहित्य अतृप्त वासनाओं की पूर्ति का साधन है

[फ्रायड के सिद्धान्तों पर अवस्थित साहित्यिक मतवाद]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भारी क्रान्ति का मुख्य श्रेय कुछ आस्ट्रियन पण्डितों को है। इनमें फ्रायड, युंग और आँडलर का नाम प्रधानतया उल्लेखनीय है। इन्होंने मनोविज्ञान शास्त्र में कई नवीन तथाकथित खोजें कीं / तथाकथित इसलिए कि अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि अवचेतन मन (जिसकी सर्वप्रथम सत्ता को फ्रायड ने खोज निकाला—ऐसा कहा जाता है) की इस प्रकार की स्थिति का ज्ञान रखे बिना कोई महान् साहित्यिक अपनी मार्मिक रचनाओं में भावाभिविश्लेषण, नहीं कर सकता जो कि आज दिन तक के संसार के साहित्य में उपलब्ध है। अतः जाने या अनजाने उन्हें अवचेतन मन की करामात का आभास रहता ही था। हाँ, इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि फ्रायड ने अवचेतन मन को वैज्ञानिक भाषा में वैज्ञानिक ढंगों से प्रस्तुत किया जिसके कारण वर्तमान विज्ञान के युग में वह एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकृत हो सका। इसके अतिरिक्त भारतीय शास्त्र के रस-सिद्धान्त के मूलभूत "स्थायीभावों" पर दृष्टिपात करने पर अवचेतन मन के रहस्यों का विशद होना बड़ा ही स्पष्ट हो जाता है। स्थायी (अविच्छिन्न प्रवाह वाले) भाव मूल मनोवृत्तियाँ ही हैं; क्योंकि गूढ़ रूप से उनकी स्थिति मानस में रहती है। अतएव उनकी संज्ञा स्थायी की गई है। स्थायीभावों की इस व्याख्या को दृष्टि में रखने पर उपर्युक्त कथन की सारवत्ता में सन्देह का अवकाश नहीं रह जाता।

श्री इलाचन्द्र प्रभृति विद्वानों की सम्पति में प्राचीन भारतीय मन

शास्त्रवेत्ता इस अवचेतन मन की खोज बहुत पूर्व ही कर चुके थे। इस के प्रमाण में महाकवि कालिदास के "शाकुन्तलम्" का निम्न श्लोक उद्धृत किया जाता है :—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि॥

[**शाकुन्तलम्, अंक ५**]

अर्थात् रम्य व मधुर दृश्यों और शब्दों को देख सुनकर जो सुखी जन भी उन्मने हैं उसका कारण यही है कि उनकी जागृत चेतना में विगत जीवन की प्रेम-भरी वे स्मृति उद्बुद्ध हो उठती है जो चेतना के भीतर संस्कार रूप बद्ध पड़ी थी।

अस्तु! अब हम प्रकृत का अनुसरण करते हुए फ्रायड के अनुसन्धानों पर दृष्टिपात करेंगे :—

(i) मानव के अवचेतन मन के अस्तित्व की सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप में सूचना फ्रायड ने दी।

(ii) यौन-प्रवृत्ति मानव-मन की (फलतः मानव-जीवन की) मूल परिचालिका है। फ्रायड इसकी व्याख्या यों करता है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दित अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा है और वह उस विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्धित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है। पर वे दमित मनोवेग सर्वथा विलुप्त न होकर सचेत मन के नीचे उसके अवचेतन भाग में सञ्चित होते रहते हैं। अर्थात् सचेत मन की अनुभूति के परे दमित मनोवेगों का सञ्चित पुञ्ज ही मानव

का अवचेतन मन है। विशेष अवसरों पर असाधारण घटनाओं के धक्के के कारण उन दमित मनोवेगों में हलचल उठ खड़ी होती है; तभी वे सचेत मन द्वारा विस्मृत प्रवृत्तियाँ फिर मन के ऊपरीय स्तर पर आकर टकराने लगती हैं। फलतः सचेत और अवचेतन मन के मध्य द्वन्द्व मचता है, जिसके कारण अनेक मानसिक उलझनें उत्पन्न होती हैं। इन्हें मानसिक जटिलताएँ या गुत्थियाँ (Complex) कहते हैं।

(iii) स्वप्न तथा जागृतावस्था में हम जितने भी स्वप्न देखते हैं या ख्याल बाँधते हैं वे परिवर्तित रूपों में हमारी दमित यौन वासनाओं को ही विस्फुटित करते हैं।

(iv) हमारे स्वभाव की सभी विकृतियों का मूल कारण दमित यौन-प्रवृत्ति ही है। इसके साथ-साथ सुकृतियाँ या सुसंस्कृत व समुन्नत प्रवृत्तियाँ भी दमित यौन-प्रवृत्तियों का ही उदात्तीकृत रूप हैं।

अर्थात् मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है। वह है यौन-प्रवृत्ति।

(v) प्रत्येक व्यक्ति अपनें अवचेतन मन का निर्माण अपनें ही जीवन-काल में स्वतन्त्र रूप से करता है, यद्यपि मूल नियम सबके लिए एक ही है।

फ्रायड के उपर्युक्त सिद्धान्तों पर विश्वास करनें वाले स्वभावतः यह मानते हैं कि कवियों की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी यौन प्रवृत्ति से ही परिचालित हैं। अपितु साहित्य के विषय में तो फ्रॉयड की मान्यताओं को अधिक स्पष्टता से ही सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि साहित्य में शृंगार का ही एकच्छत्र राज्य है। कल्पना के लोक में पहुँचकर साहित्यिक

अपनी दमित यौन-प्रवृत्तियों को खुलकर रूप दे सकता है और देता भी है।

साहित्य ने अपने लिए बुद्धि का विचारात्मक क्षेत्र छोड़कर भावनाओं का अपार सागर चुन लिया है। ये भावनाएँ कल्पनाओं के पंख लगा-कर अनोखे स्वप्नलोकों की सृष्टि किया करती हैं। फ्रॉयड के मत से भावनाओं का मूलस्रोत अवचेतन मन में है। अवचेतन मन अपनी दमित वासनाओं के विशाल भंडार को यह आकर विस्तृत करनें का पूरा-पूरा अवसर पाता है। अब यदि हम भावनाओं के क्रीड़ा-विलास की सम्यक् विवृति चाहें तो हमें मनोविज्ञान-शास्त्र के आधार पर उनका विश्लेषण व विवेचन करना पड़ेगा; अन्यथा कोई रास्ता नहीं है। इसीलिए आज के युग में साहित्य की व्याख्या के लिए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सहारा लिया जाना आवश्यक है। साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टि के निम्न ध्येय हो सकते हैं :—

(i) मानव-जीवन के मूलगत रहस्यों का परिचय मनोविश्लेषण के आधार पर देना।

(ii) काव्य-कथा के पात्र-पात्रियों के जीवन का यथार्थ मूल्यांकन उनकी मानसिक प्रवृत्तियों के सूक्ष्म विवेंचन द्वारा करना।

(iii) जीवन और जगत् के मूलगत तत्त्वों का यथार्थ निरूपण मनोविश्लेषण के आधार पर करना।

(iv) जीवन के दोनों—अन्तरंग तथा बाह्य—पहलुओं की सम-स्याओं के मेल व संघर्ष पर प्रकाश डालना।

संक्षेपतः काव्य का कर्त्तव्य हुआ—"मानव के गहन-जाल-जटिल मन की अगाध रहस्यमयता के भीतर डूबकर वहाँ से जीवन के मूल संचालक तत्त्वों की खोज और छानबीन करके जगत् की महान् समस्याओं को रसात्मक रूप में सामने रखना और उनके सुलझाव के सुझाव भी अपने दृष्टिकोण से आभास रूप में देना।" यह सभी मनोवैज्ञानिक दृष्टि पाने

पर ही सम्भव होता है। अतः साहित्य के लिए मनोविज्ञान की मूल उपयोगिता असन्दिग्ध है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि की महत्ता साहित्य में स्वीकार की ही जा सकती है। प्रगतिवाद की साहित्यिक धारा तो मार्क्स की तरह डारविन और फ्रायड को भी पथ-प्रदर्शक मानकर बह रही है। इतना होते हुए भी साहित्य के विषय में यह धारणा नहीं बनाई जा सकती कि उसका विकास किन्हीं अमुक सिद्धान्तों के आधार पर हो रहा है या होना चाहिए; चाहे वे सिद्धान्त वैज्ञानिकता की फुल-ड्रेस में ही क्यों न आ उपस्थित हुए हों। साहित्य तो अपना विकास सरल स्वाभाविक ढंगों से ही करता रहा है। वैज्ञानिक और बौद्धिक मतवादों की विभीषिका उसको जीर्ण-ज्वर की तरह ग्रस्त कर सकती है।

अभिव्यञ्जनावाद

अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्त्तक बेनेडेटो क्रोचे हैं। इनका जन्म इटली में हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विपरीतआत्मा की सत्ता की प्रतिष्ठा करना इनका लक्ष्य था। अतः वस्तुतः ये आत्मवादी दार्शनिक थे। और इनके विवेचन का क्षेत्र मूलतः आध्यात्मिक था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐस्थेटिक' (Aesthe tic) है।

आत्मा की क्रिया-विधि के प्रसंग में वे कला-सृष्टि के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं। उनका मन्तव्य निम्न प्रकार है :—

आत्मा की क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—[१] विचारात्मक और [२] व्यवहारात्मक। व्यवहारात्मक क्रिया के दो रूप—आर्थिक और नैतिक हैं। इसी प्रकार विचारात्मक क्रिया को भी (जिसमें समस्त मानव-ज्ञान आ जाता है) दो खण्डों में विभक्त किया गया है—प्रथम खण्ड कल्पना-प्रसूत और दूसरा तर्क-जनित होता है। जगत् के नाना रूपों और व्यवहारों का इन्द्रियों द्वारा जो संवेदन आत्मा तक पहुँचता है उसे कल्पना की सहायता से जब बिम्ब रूप से अन्तःकरण में उपस्थित करते हैं तो हमें सहजानुभूति (Intuition) होती है। कला-सृष्टि की मूल-प्रक्रिया यही है। इसके विपरीत जब तर्क-वितर्क से प्राप्त-संवेदनों की तुलना, वर्गीकरण और नियम-निर्धारण करते हैं तब विचार (Concepts) बनते हैं, जो दर्शन एवं विज्ञान के उदय के कारण हैं। कोष्ठक रूप में उक्त विभाजन को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

जैसा कि अभी कहा-आत्मा की उपरिलिखित क्रियाओं में से कला का सम्बन्ध कल्पना-प्रसूत-क्रिया (स्वतः-प्रकाशित ज्ञानोत्पादिका भी इसे कहा जा सकता है) से ही है। जब हमारी आत्मा के संसर्ग में कोई बाह्य पदार्थ आता है तो स्वतः-प्रकाशित ज्ञान के रूप में 'कतिपय अरूप झंकृतियाँ' (संवेदन) पैदा होती हैं। उक्त अरूप झंकृतियाँ कल्पना (जो कि आत्मा की एक सहज शक्ति है) के सूक्ष्म साँचे में ढलकर सूक्ष्म रूप से भीतर ही भीतर 'अभिव्यञ्जित' होती हैं। क्रोचे की दृष्टि में यह आन्तरिक एवं सूक्ष्म अभिव्यञ्जना या रूप-विधान (इसीको सहजानुभूति नाम दिया गया है) ही कला की दृष्टि से सब कुछ है; इसी का महत्त्व है। अरूप झंकृतियों का कल्पना के साँचे में ढ़लकर भीतर ही भीतर उपस्थित होना ही कला है और सौन्दर्य है। यह एक आध्यात्मिक क्रिया है। अब सहजानुभूतिरूप सौन्दर्य से जन्य आनन्द की अनुभूति होती है; जिसे शब्द, रंग और रेखा आदि प्राकृतिक तत्त्वों की सहायता से अनूदित किया जाता है। इसी का फल काव्य, चित्र आदि कलाकृतियाँ हैं।

उपर्युक्त कथन का यदि विश्लेषण किया जाय तो कला-सृष्टि की प्रक्रिया को पाँच सोपानों में विभक्त कर सकते हैं :—

(i) पदार्थों के आत्मा के संसर्ग में आने पर आत्मा में अरूप-झंकृतियों (या संवेदनों) का उठना। (ये संवेदन स्वतः प्रकाशित ज्ञान रूप होते हैं)।

(ii) झंकृतियों का कल्पना के साँचे में ढलकर समन्वित होना या अभिव्यञ्जित होना। (कल्पना में मूर्त-विधान होना या सहजानुभूति होना)।

(iii) सहजानुभूति से सौन्दर्य-जन्य आनन्दानुभूति का होना।

(iv) इसी आनन्दानुभूति का शब्दादि प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा अनुवाद।

(v) इस प्रकार अनूदित कलाकृति का प्रस्तुत होना।

क्रोचे द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त 'आत्मा की क्रियाओं' से कला-सम्बन्धी निम्न सिद्धान्त सामने आते हैं :—

१. अभिव्यञ्जना की सहजानुभूति है। सहजानुभूति ही सौन्दर्य है, और सौन्दर्य ही कला है, जिससे कलाकृति का जन्म होता है। अर्थात् "अभिव्यञ्जना = सहजानुभूति = सौन्दर्य = कला"।

इस फार्मूले के स्पष्टीकरण के लिए सहजानुभूति के तत्त्व पर पुनः दृष्टिपात करना अच्छा होगा :—

(i) आत्मा में अरूप झंकृतियों का उत्पन्न होना, उठना।

(ii) अरूप झंकृतियों का आत्मा की सहज-शक्ति कल्पना द्वारा बिम्ब रूप में होकर अभिव्यञ्जित होना।

(iii) इस अभिव्यञ्जना के होते ही कलात्मक सौन्दर्यरूप सहजानुभूति (Intuition) होना।

मन और बुद्धि, अन्तःकरण की दो शक्तियाँ कही जा सकती हैं जो अपने-अपने हिस्से के विभाजित-कार्य करती हैं। मन कल्पना कर सकता है, निर्णय करने की क्षमता इसमें नहीं। निर्णय का कार्य बुद्धि के सुपुर्द है। संकल्प, विकल्प, इच्छा, स्मृति, श्रद्धा, उत्साह, प्रेम आदि मन के गुण अथवा धर्म हैं। सार-असार का विचार करके निश्चय करने वाली इन्द्रिय बुद्धि है।

क्रोचे की सहजानुभूति मन की क्रिया—कल्पना—का परिणाम है जो

कला का बोध-पक्ष है; बौद्धिक ज्ञान से इसका सम्बन्ध नहीं। और विचार बुद्धि की क्रिया—तर्क—का बोध-पक्ष है। अतः सहजानुभूति और विचार में स्वाभाविक भेद है। वह बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र है। सहजानुभूति आत्मा को परिपूर्ण चित्र प्रदान करती है; जबकि विचार आत्मा के ज्ञान-भण्डार में एक तथ्यमात्र की वृद्धि करके रह जाता है।

सहजानुभूति के तत्त्व के विश्लेषण से तीन तत्त्व हाथ आते हैं—वस्तु या भाव, काल्पनिक आकार और अभिव्यञ्जना। वस्तु के बिना काल्पनिक आकृति सम्भव नहीं तो भी क्रोचे ने वस्तु या भाव को कला में विशेष महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि वस्तु काल्पनिक आकृति के बिना सौन्दर्य-भावना को जागृत करनें में असमर्थ है तथा सहजानुभूति या सौन्दर्य भावना आकृति-प्रधान ही है। अधिकांश विद्वानों ने क्रोचे द्वारा वस्तु या भाव की इस उपेक्षा को उचित नहीं बताया। उनका प्रधान आक्षेप यह है कि वस्तु के बिना आकार की कोई सत्ता ही नहीं होती, तब फिर वस्तु या भाव का महत्त्व क्यों नहीं?

क्रोचे की दृष्टि में भाव या वस्तु का निषेध तो नहीं है परन्तु आकृति ही रस-सञ्चार में प्रमुख होने से गौरवास्पद हो सकती है। इसके साथ उसकी यह मान्यता है कि वस्तुतस्तु वस्तु और आकृति में भेद ही नहीं हैं। वस्तु या भाव सत्ता रूप से अन्तस् है तो आकृति उसका बाह्य। कला की दृष्टि से वस्तु या भाव आकृति से निरपेक्ष नहीं रह सकते।

आचार्य शुक्ल ने क्रोचे की इस भावहीनता पर तीव्र प्रहार किया है—"इटली-निवासी क्रोचे ने अपनें 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयं-प्रकाश-ज्ञान (Intuition) प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध या विचार-प्रसूत-ज्ञान से भिन्न, केवल कल्पना में आई हुई वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञान-मात्र माना है। वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट लें गये हैं। भावों या मनोविकारों तक को उन्होंनें

काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं माना है। पर न चाहने पर भी अभिव्यञ्जना या उक्ति के अनभिव्यक्त पूर्वरूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है। उससे अपना वे पीछा नहीं छुड़ा सके हैं।"—(आचार्य शुक्ल-'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद')

वस्तु और आकृति के बाद आती है अभिव्यञ्जना। वस्तु या भाव के कल्पना द्वारा आकृति धारण करते ही अभिव्यञ्जना और सहजानुभूति एक साथ ही उदित हो जाती हैं, जिससे उन दोनों का तादात्म्य ही प्रकट होता है। क्रोचे कहता है—"Th϶ one is produced with the other at the same intance because they are not two but one"—Ae thetic.

सहजानुभूति के सम्बन्ध में इतनी बात और ध्यान रखनी चाहिये कि वह सम्वेदन या इन्द्रिय-बोध नहीं है। यह ठीक है कि इन्द्रिय-बोध के बिना सहजानुभूति सम्भव नहीं, तो भी उन दोनों के बीच कल्पना-शक्ति की कार्य-कुशलता आवश्यक है। पहिले कल्पना के सहारे बिम्ब की अभिव्यञ्जना होती है, तब सहजानुभूति का उदय होता है। व्यवहारतः यह उद्भूति युगपत् है। इन्द्रिय-बोध तो सभी को होता है परन्तु सहजानुभूति प्रतिभा, शक्ति या कवि-व्यापार वाले को ही होता है। अतएव वही सौन्दर्य है और कला है।

२. पूर्णतया सफल अभिव्यञ्जना ही अभिव्यञ्जना होती है। असफल या कम सफल अभिव्यञ्जना नहीं होती, वह विकारमात्र है। अतः घटिया अभिव्यञ्जना न होने से बढ़िया अभिव्यञ्जना भी सम्भव नहीं। अभिव्यञ्जना ही कला है, इसलिए कला में भी घटिया, बढ़िया नहीं हो सकता। इसका अर्थ हुआ कि कला में या सौन्दर्य में उत्तमाधम-मध्यम का कोटिक्रम सम्भव नहीं। क्रोचे कला के वर्गीकरण का विरोधी है।

३ जब अभिव्यञ्जना, कला या सौन्दर्य में कोटि-क्रम सम्भव नहीं, वह अपने आपमें एकमात्र रूप से पूर्ण है तो :—

[क] अलंकार और अलंकार्य का भेद भी सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से अलंकारों की गणना और उनके भेदोपभेद करना भी निरर्थक है।

[ख] शैली और कवि-व्यापार आदि पर ज़ोर देनें वालें सिद्धान्त भी अतात्त्विक हैं।

[ग] और इस हेतु से भी काव्य में अभिव्यञ्जना से व्यतिरिक्त वस्तु का भी कोई महत्त्व नहीं। इसके अतिरिक्त काव्य-वस्तु अपने आप में निष्क्रिय एवं जड़ है। उसके सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली अरूप झंकृतियाँ भी आकारहीन होनें से कोई विशेषता नहीं रखतीं। जब वे कल्पना के योग से अभिव्यक्त हो जातीं हैं अभिव्दञ्जनास्वरूप ही होकर कला में समाहित हो जातीं हैं। इसलिए काव्य में वस्तु को पृथक् करके देखना उचित नहीं।

४. अभिव्यञ्जना कला है। उसका अनुवाद कलाकृति है। अत: कला और कलाकृति में स्पष्ट भेद है। अस्तु!

अब एक उदाहरण से क्रोचे द्वारा प्रतिपादित कला-सृजन की विधि की परख भी देख लेनी चाहिए। निम्न पद्य के कर्ता श्री ब्रह्मानन्द जी के सामने—सांसारिक जन का भक्ति-विमुख हो जीवन को व्यर्थ गँवाने—का तथ्य रहा होगा। यह एक परिस्थिति है जिसके संसर्ग से कवि की आत्मा में अरूप-झंकृतियों का उठना स्वाभाविक है। अत: कह सकते हैं कि इस प्रकार का भाव स्वत:-प्रकाशित होने वाला ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना के सूक्ष्म ताने-बाने में आकर कवि के मानसपटल पर बिम्ब रूप से छा गया होगा, अभिव्यक्त हुआ होगा, जिससे कवि को एक सहजानुभूति (Intuition) हुई। जो उसकी कला का आधार बन गई। आधारप्राप्तिरूप सफलता ही सौन्दर्यानुभूति है। उसको स्थूल शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया :—

ऐरी सखी ! बतला दे मुझे पिय के मन भावन की बतियाँ ॥
गुन-हीन, मलीन शरीर मेरा, कुछ हार-सिंगार किया भी नहीं ॥
रस-प्रेम की बात न जानूँ कछू मेरी काँपति हैं डर से छतियाँ ॥
प्रिय अन्दर महल बिराज रहे घर काजन में ज्ञिपिटाय रही ।
पल एकौ घड़ी नहिं पास गई बिरथा ; सब बीति गईं रतियाँ ॥
पिय सोवत ऊँची अटारिन पै, जहँ जीव परन्द की गम्य नहीं ।
किस मारग जाय मिलौं उनसे, किस भाँति बनाय लिखौं पतियाँ ॥
निज स्वारथ का संसार सभी, अब प्रीति करौं कासे मन में ।
ब्रह्मानन्द तेरा हितकार पिया जग भीतर और नहीं गतियाँ ॥

यह आवश्यक नहीं कि कवि-कल्पना में जो कला की सूक्ष्म अभि-व्यक्ति हुई है उसे अनिवार्य रूप से शब्दों में या अन्य किसी भौतिक उपकरण में प्रस्तुत किया जाय । परन्तु जब वह इस प्रकार भौतिक रूप धारण करती है तो निसर्गतः उसमें कला-सौष्ठव होना ही चाहिए । काव्य-कला के स्थूल परीक्षकों की दृष्टि में इस छन्द में 'समासोक्ति' अलंकार है । "प्रभु-भक्ति न कर सकने पर ग्लानि फिर तद्विषयक जिज्ञासा" यह प्रस्तुत है । इसका कथन इस प्रकार हुआ है कि जिससे "पत्नी की, प्रियतम के साथ रमण के अवसर खोकर पश्चात्तापजन्य विलास की उत्कण्ठा" का भी स्फुरण हो जाता है। वातावरण की अन्विति के लिए-सखी की उक्ति सखी के प्रति--की उद्भावना भी मनोरम बन पड़ी है। ध्वनि-परीक्षक इसकी शृंगार रस व्यंग्यता पर मुग्ध हो सकते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि कवि की अभिव्यञ्जना अभिव्यञ्जना है तो कला-कृति में कोर-कसर की गुँजायश नहीं ।

हमने देखा कि काव्य की आत्मा का प्रश्न हमारे यहाँ इस लिए उठ खड़ा हुआ कि उसका सही लक्षण किया जा सके । विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये । यही नहीं, पाश्चात्य देशों में भी काव्य के विषय में अरस्तू के समय से विवेचन होता चला आया

है। इन सभी विवेचनों का केन्द्र काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्व ही रहे। किसी ने बाह्य तो दूसरे ने आभ्यन्तर तत्त्वों पर ज़ोर दिया। परन्तु इतना तो स्वीकार ही करना पड़ता है कि जब विभिन्न तत्त्वों में सर्वोपरि एक तत्त्व को खोजा जायेगा तो आभ्यन्तर तत्त्व को ही स्थान मिलेगा। उनमें भी 'रस' की विशेषता है, क्योंकि काव्यमात्र का लक्ष्य आनन्द की ही प्राप्ति है, और आनन्द ही 'रस' है। इसलिए पौरस्त्य और पाश्चात्य, सभी की व्याख्याएँ निरर्थक हो जाती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि काव्य में प्रभविष्णुता या रसानुभूति एवं रसाभिव्यक्ति का तत्त्व आवश्यक नहीं, तब फिर क्यों न यह स्वीकार कर लिया जाय कि काव्य की आत्मा या काव्य की मूलशक्ति 'रस' में ही केन्द्रित है ?

देखने से ज्ञात होता है कि रस की इस सर्वोपरि महत्ता को सभी आलोचकों ने परखा है, और माना भी है। तदपि व्याख्याकारों में जो मतवैभिन्य पाया जाता है उसका कारण दृष्टिकोण या अवलोकन की दिशा की भिन्नता है। जिस प्रकार विभिन्न दिशाओं से देखने पर एक ही व्यक्ति अनेक रूपों में भासता हुआ भी अपनी मूल सत्ता में 'वही' रहता है और उसकी मूल सत्ता प्रभावशाली रूप से कायम रहती है उसी प्रकार काव्य में रसाभिव्यक्ति की केन्द्रिक चेतना असन्दिग्धरूपेण सर्वातिक्रान्तवर्तिनी है; चाहे काव्य की बह्याभिव्यक्ति विभिन्न रूपों और रंगों में कितनी ही झिलमिलाती रहे। यह तथ्य सभी को मानना पड़ा। अतः रस को साथ लेकर ही अपने विवेचन को पूर्ण बना सके।

अलंकारवादियों ने रसवदादि के रूप में रस को स्थान देकर अपनी अपूर्णता को पूरा करना चाहा तो इधर कुन्तक ने रस की व्यापक महत्ता को सोद्घोष स्वीकार कर रही-सही कमी पूरी कर दी—

निरन्तररसोद्गारगर्भसौन्दर्यनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥

"कवियों की वाणी इसके कारण ही जीवित रहती है, कथामात्र के आश्रय से नहीं।" ध्वनिकार का काम तो रस के बिना चल ही कैसे सकता था ? उन्होंने 'रस-ध्वनि' को अपने यहाँ सर्वोच्च आसन प्रदान किया। अतएव वे कवि को रसमय रूप के प्रति हिदायत कर गये हैं :—

व्यंग्य-व्यञ्जकभावेऽस्मिन्वि विधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमये एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान् ॥ ध्वन्यालोक

रस की नव-जीवन-प्रदायिनी शक्ति को वे भला कैसे भूल सकते थे— 'काव्य में रस-सिञ्चन से पूर्व-दृष्ट-अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं, जैसे वसन्त में वृक्ष नये-नये दिखाई पड़ने लगते हैं।"

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥

इसी प्रकार अभिव्यञ्जनावादियों के सामने भी काव्य के परम लक्ष्य की समस्या रही; उनका उद्धार भी रसाश्रय से ही होता है। देखिये "काव्य में अभिव्यञ्जावाद" के लेखक श्री सुधांशु जी क्या कहते हैं— "काव्य के लिए सहजानुभूति ही सब कुछ है, उसमें बुद्धि का व्यायाम हो जानें पर वह काव्यकार और पाठक—दोनों के लिए एक समस्या उपस्थित कर देता है। जिस काव्य में रस-सञ्चार की प्रकृत क्षमता नहीं, वह भारतीय दृष्टि से ही नहीं, योरुपीय दृष्टि से भी हेय है।"

कविता का लक्षण करते हुए आचार्य शुक्ल ने तो रसानुभूति के आनन्द को मोक्ष के आनन्द के समकक्ष बताते हुए रसदशा का विधान ही कविता का परम लक्ष्य माना है :—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, हृदय की इसी मुक्तिसाधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"

रीतिवादी आचार्य यद्यपि काव्य की बाह्य साधना के पक्षपाती थे तो भी गुणों के सहारे उनकी भी रस तक पहुँच हो गई।

शताब्दियों पूर्व नाटयाचार्य भरत ने जिस 'रस' की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया था वह ग्राज भी नित्य नवीन ग्रौर पुरातन विचार-धाराग्रों की लहरियों से ऊपर उठकर काव्यलोक में गङ्गाजल की तरह महत्त्व के साथ प्रवाहित है। पूर्व, पश्चिम में ग्रभी तक रस-वाद का स्थान ले सकने वाला कोई भी साहित्यिक सिद्धान्त ग्राविष्कृत नहीं हो सका है। एक विद्वान् का कथन है—"इसी भाव-पक्ष की भित्ति पर रसवाद का जो निर्माण-कार्य हुग्रा है, वह विश्व-साहित्य में ग्रपने ढंग की एक ही वस्तु है।"

ग्रन्त में श्रीकण्ठचरित के रचयिता की वाणी में रस-स्तुति के साथ यह प्रसंग समाप्त करते हैं :—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढोमहत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं बिना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः॥

"सैकड़ों ग्रलंकारों से शोभित, उच्चपद पर प्रतिष्ठित ग्रौर सौष्ठव-शाली होता हुग्रा भी प्रबन्ध सान्द्र-रस-धारा ग्रभिषेक के बिना काव्या-धिराज पदवी नहीं पाता।"